: लेखक :

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०—आपका जन्म अलीगढ़ में १९१५ ई० में हुआ और अलीगढ़ और इलाहाबाद में शिक्षा प्राप्त की। आप इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के हिन्दी विभाग में अध्यापक का काम कर रहे हैं। आपने उन्नीसवीं शताब्दी : हिन्दी साहित्य का विशेष अध्ययन और साहित्य के अनेक क्रिया अंगों पर प्रकाश डाला है। अनेक खोजपूर्ण लेखों के अतिरिक्त 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०)' 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज', और 'भारतेन्दु की विचारधारा' आपकी प्रधान रचनाएँ हैं, जिनका विद्वानों ने अच्छा स्वागत किया है। इन रचनाओं के आधार पर आपने हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। गंभीर अध्ययन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सुस्पष्ट अभिव्यंजनाशैली आपकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं।

साहित्य-चिंतन



डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम्. ए., डी. फिल्., डी. लिट्.,
हिंदी-विभाग, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी



प्रकाशक
राजस्थान प्रेस, बम्बई नं. २

प्रथम संस्करण १९४९

मूल्य ४)

राजस्थान प्रेस, ५७ ए, खत्तरगली, बम्बई २ के लिए र. पाठक बी. ए. बी. टी.
द्वारा मुद्रित तथा प्रकाशित

ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा-नीति

भारतवर्ष में अंगरेज़ी सत्ता की स्थापना का काल तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला काल सन् १६०० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्माण-काल से सन् १७४४ (आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध) तक का है। इस काल में आपत्तियों और दुर्निवार चिंताओं का दौरदौरा जरूर रहा, लेकिन व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से यह काल बहुत अच्छा समझा जाता है। दूसरे काल की गणना सन् १७४४ से सन् १८१८ तक की जा सकती है। इन चौहत्तर वर्षों में कंपनी को अनेक लड़ाइयां लड़नी पड़ीं, जिन के फलस्वरूप उस के राज्य की सीमा का विस्तार हुआ और राजनीतिक संगठन की आधार-शिला स्थापित हुई। इस काल में कंपनी -सरकार देश की राजनीति में पूर्ण-रूप से भाग लेने लगी, और भारतीय नरेशों के आपस के संधि-विग्रह में पड़ कर अपना प्रभाव बढ़ाती गई। सन् १७५७ में प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला से युद्ध हुआ जिस के फलस्वरूप बंगाल प्रांत पर उस का पूर्ण-रूप से प्रभुत्व स्थापित हो गया। सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई के बाद उस की सैनिक शक्ति बढ़ी और अवध अंगरेजों के हाथ में आ गया। एक वर्ष बाद अवध और बिहार की दीवानी भी उन को मिल गई। अंत में हैदर अली और मरहठों के पतनके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभुत्व और भी बढ़ गया और धीरे-धीरे उस ने भारतवर्ष का शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। तीसरा काल हम सन् १८१८ से लेकर १८५६ तक मान सकते हैं। वैसे तो अठारहवीं शताब्दी का अंत होते-होते ईस्ट इंडिया कंपनी एक प्रबल राजनीतिक शक्ति बन चुकी थी। लेकिन अभी तक कंपनी के राज्य का विस्तार पूरा न हो पाया था। इस काल में भारत पूर्ण-रूप से उसके आधीन हो गया। सन् १८५७ में भारत के राज्य-नीतिक गगन-मंडल में विपत्ति के बादल छा गए। एक दफ़ा तो अंगरेजों को अपना यहां रहना संदिग्ध दिखाई पड़ने लगा। सन्

१८५८ के अंत तक उन्हों ने इस विद्रोह की आग को जैसे-तैसे शांत किया। अगस्त सन् १८५८ में भारतवर्ष का शासनाधिकार कंपनी के हाथ से निकल कर पूरे तौर से इंग्लिस्तान की सरकार के हाथ में चला गया।

अस्तु, सन् १७५७ से सन् १८५७ तक कंपनी-सरकार ने पूर्ण-रूप से देश अपने अधिकार में कर लिया, जिस के साथ-साथ देश के राजनीतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक, और साहित्यिक जीवन पर नूतन प्रभाव दिखलाई देने लगे।

शासन-सूत्र हाथ में आ जाने के बाद राज्य के हित के लिए उस के सुचारु-रूप से संचालन के लिए, शासकों और शासितों में संपर्क बढ़ना बहुत ज़रूरी था। यह मानी हुई बात है कि इस संपर्क को बढ़ाने और शासितों की देख-भाल और उन के साथ न्याय बरतने की गुंजायश देशी भाषाओं और रीति-रस्मों का ज्ञान प्राप्त करने पर ही हो सकती थी। रीतिरस्मों का ज्ञान भाषा के माध्यम द्वारा ही विशेषकर हो सकता है। इस दृष्टि से भाषा का महत्वपूर्ण स्थान ठहरता है। भाषा का प्रश्न उठने पर अधिकारियों के सामने उस को हल करने के दो मार्ग थे। एक तो जनता अंगरेज़ी भाषा सीखती और उस के और सरकार के बीच तमाम लिखा-पढ़ी इस भाषा के माध्यम द्वारा होती। दूसरे, अंगरेज, जो संख्या में बहुत थोड़े थे, जनता को अपनी (अंगरेज़ों की) भाषा सीखने पर बाध्य करने के बजाय स्वयं जनता की भाषा सीखते। इस में अधिकारियों के धन की बचत ही नहीं थी, वरन् स्वयं जनता को जो निर्धन और पीड़ित थी, एक विदेशी भाषा सीखने के लिए अवसर और समय भी नहीं था इस संबंध में जो भाषाएं और लिपियां उन के सामने आईं वे निम्नलिखित हैं—

(१) अँगरेज़ी भाषा;
(२) संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाएं;
(३) लोकभाषाएं;
(४) रोमन लिपि;
(५) फ़ारसी लिपि; और
(६) देवनागरी लिपि।

ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा-नीति समझने के लिए एक-एक करके इन सब पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

यह तो निर्विवाद है कि कंपनी-सरकार अंगरेजी को राजभाषा बनाना चाहती थी जो बिल्कुल स्वाभाविक था और धीरे-धीरे वह इस ओर बढ़ भी

रही थी। लेकिन शुरू में बहुत दिनों तक कंपनी ने अंगरेजी या देशी शिक्षा की ओर ध्यान न दिया। प्राचीन काल से भारत में उच्च से उच्च शिक्षा का प्रबंध था। मुसलमानी काल में भी हिंदुओं और मुसलमानों की शिक्षा क्रमशः पंडितों और मौलवियों के हाथ में थी। अंगरेजी शासन-काल के आरंभ में यह शिक्षा-संगठन टूट चुका था। तब भी शिक्षा का आदर बना हुआ था।[1] लेकिन अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पश्चिमी सभ्यता के संपर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की दिन-प्रतिदिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल धार्मिक और प्राचीन ढंग की शिक्षा से काम न चल सकता था। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य अनेक बिषयों का— जिन का ज्ञान सामाजिक और जातीय प्रगति के लिए अनिवार्य था—अगरेजी भाषा में भांडार भरा हुआ था। इस दृष्टि में संस्कृत, अरबी और फ़ारसी से अगरेजी की ही उपयोगिता अधिक थी। लेकिन ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप वारेन हेस्टिंग्ज़(सन् १७७४–१७८५) और बंबई के गवर्नर जॉनेथन डंकन(सन् १७९५-१८११) ने हिंदू और मुसलमानों को क्रमशः संस्कृत और फ़ारसी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। पहले-पहल सन्१८१३ में पार्लामेंट ने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिए एक लाख रुपए की मंजूरी दी थी। परन्तु इस से उन को कुछ लाभ पहुँचा प्रतीत नहीं हुआ। सन् १८१६ में डविड हेअर ने राजा राम मोहनराय की सहायता से कलकत्ते में अंगरेजी शिक्षा देने के लिए एक स्कूल की स्थापना की। सन् १८२४ में स्टुअर्ट एलफिंस्टन ने देश में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को देखते हुए शिक्षा-प्रचार की परम आवश्यकता समझी थी।[2] सन् १८३० में एलेक्जैंडर डफ़ ने कलकत्ते में

---

[1] We know so little about the people, that the majority, are, perhaps, unacquainted with the facts that for one school or college, in any way supported by the English, there are at least a hundred, including village-schools, supported by the people without any connexion with us, to say nothing of the immense number of children who are taught privately in their parents' house.—Hon'ble Frederick John Shore, *Notes on India Affairs*, Vol. II., p. 5.

[2] रैम्ज़े म्यूर : 'दि मेकिंग ऑव् ब्रिटिश इंडिया' (१७५६-१८५८), १९१५ ई० संस्करण, पृ० २९७।

उच्च शिक्षा देने के अभिप्राय से एक कॉलेज स्थापित किया। इस प्रकार असल में ईसाई धर्म का प्रचार करने वाली मिशनरी सोसायटिओं और वर्तमान भारत के आदिगुरु राजा राममोहन राय की प्रेरणा से तत्कालीन राज सत्ता का ध्यान शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। राजा साहब पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की शिक्षा के प्रचार से प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को बदल कर देश की सामाजिक अवस्था सुधारना चाहते थे।

कंपनी-सरकार का शासन-कार्य ज्यों-ज्यों बढ़कर पेचीदा होता गया उन को अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ करने की ओर ध्यान देना पड़ा। इस लिए उन्हों ने ऐसी शिक्षा-पद्धति चलानी चाही जिस से भारतवर्ष में उन का राज्य क़ायम रहे। सन् १८१३ के ऐक्ट में मंजूर की गई रक़म से संस्कृत और फारसी की शिक्षा को सहायता मिली। राजा राममोहन राय और मिशनरियों ने उस का विरोध किया था। परन्तु कम्पनी-सरकार डरती थी कि न जाने जन-साधारण उस के इस कार्य को किस दृष्टि से देखे। संभवत: अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली को जनता अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों पर आघात समझ बैठती। सन् १८३३ तक सरकार का यही रुख रहा। इसी बीच में (सन् १८३२ से कुछ पहले) कम्पनी के अनेक कर्मचारियों ने यह मत फैलाना शुरू किया कि भारतीयों की शिक्षा अंगरेजी भाषा में और उसी के माध्यम द्वारा ज्ञान-विज्ञान के प्रचार से होनी चाहिए। इस मत के प्रचारक यह तो जानते थे कि संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाएं मृत हो चुकी थीं। लेकिन साथ ही तत्कालीन प्रचलित देशी भाषाओं को भी घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के लिए देशी भाषाओं को वे अनुपयुक्त समझते थे। स्वयं गुलामों की भाषा सीखने की अपेक्षा गुलामों को अपनी भाषा सिखाने को वे सरल काम समझते थे इसी समय सन् १८३४ में मैकॉले भारतवर्ष आए। जब सन् १८१३ के चार्टर पर उन की राय पूछी गई तो उन्हों ने लिखा कि ज्ञान-विज्ञान तथा उपयोगी विषयों की शिक्षा पर खर्च करने के बजाय रुपया संस्कृत और फ़ारसी के पिछड़े हुए ज्ञान पर हुआ है जिस से जनता को कोई लाभ पहुँचने की संभावना नहीं है। वे अंगरेजी भाषा और शिक्षा द्वारा भारतवासियों की विचार-धारा बिल्कुल अंगरेज़ों की सी बना कर उन्हें सभ्यता के मार्ग पर आगे ले जाना चाहते थे। इस उद्देश्य को लेकर सन् १८३४ में कंपनी की शिक्षा-नीति फिर बदली। सरकार ने अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। सन् १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव

प्रकाशित हुआ। सन् १८४४ में हार्डिज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। कि नौकरियां अंगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को दी जाएं। इस के बाद सन १८५३ के नए चार्टर तक अंगरेज़ी का काफ़ी प्रचार हुआ।

लेकिन अंत में बात केवल अंगरेज़ी के पक्ष-समर्थकों के मन के मुताबिक़ न हुई। भारतीय जनता पिछड़ी हुई ज़रूर थी, किंतु उस के पास अपनी भाषा और अपना साहित्य मौजूद था। ऐसी हालत में देश के अपार जनसमूह पर एक विदेशी भाषा लादने का इरादा करना अव्यावहारिक ही नहीं वरन् अन्यायपूर्ण भी था। ऑनरेबुल फ्रेडेरिक जान शोर जैसे समझदार अंगरेज़ों ने ऐसी अव्यावहारिक आयोजनाओं का हमेशा विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि धनीमानी व्यक्तियों ने, जिन के पास समय और साधन दोनों ही थे, अंगरेज़ी द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की। ऐसे व्यक्ति उँगलियों पर गिने जा सकते थे। वैसे भी इन चार्टरों से पहले ही वे लोग इस ओर तत्पर थे। लेकिन जन-साधारण के लिए उस की भाषाओं में ही अंगरेज़ी ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित कराने का उपक्रम किया गया। सार्वजनिक शिक्षा-समिति के अंतर्गत कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (सन् १८१७) और मिशनरियों द्वारा स्थापित आगरा स्कूल बुक सोसायटी (सन् १८३३ के लगभग) ने इस ओर सराहनीय कार्य किया।

शिक्षा के साथ-साथ अंगरेज़ी के पक्ष-समर्थकों ने यह कोशिश भी की कि अदालत की भाषा अंगरेज़ी हो जाय। इस के कई कारण थे। उन के अनुसार फ़ारसी लोगों की समझ में न आती थी। उन का यह कहना बिल्कुल ठीक था। इस लिए वे अदालतों में अंगरेज़ी का प्रचार देखना चाहते थे। साथ ही अंगरेज़ कर्मचारी, सौदागर, आदि, जो संख्या में बहुत थोड़े थे, यह चाहते थे कि उन के देशी भाषाओं के सीखने के स्थान पर देश उन की भाषा सीखे, ताकि वे एक व्यर्थ की मेहनत से बच जायँ। कुछ लोगों का कहना था कि फ़ारसी अंगरेज़ अफ़सरों की समझ में अच्छी तरह न आने के कारण हर एक सरकारी विभाग में बहुत सी बुराइयां पैदा हो गई हैं और उन को दूर करने के लिए अदालतों की भाषा अंगरेज़ी कर देनी चाहिए जिस से अफ़सर लोग कार्यवाही पूरी तौर से समझ सकें। यहां पर यह बता देना अनुचित न होगा कि यद्यपि फ़ारसी अदालत की भाषा थी और अमले इसी का प्रयोग करते थे, लेकिन अंगरेज़ हाकिम और जज अंगरेज़ी भाषा का प्रयोग करते थे।

ऑनरेबुल फ्रेडेरिक जॉन शोर ने उपर्युक्त आपत्तियों का बड़ी सचाई और दिलेरी के साथ निराकरण किया है। उन का कहना है कि "यदि फ़ारसी जन-साधारण की समझ में नहीं आती तो अंगरेज़ी ही उन की समझ में कब आती है। उन के लिए दोनों ही विदेशी भाषाएं हैं और दोनों ही को वे नहीं समझ पाते। जो अंगरेज़ अपनी सहूलियत के ख़याल से अंगरेज़ी प्रचलित करना चाहते हैं उन से मेरा कहना है कि यह बात न केवल उल्टी है, वरन् बिल्कुल अन्यायपूर्ण है। दरिद्र और पीड़ित जनता को एक विदेशी भाषा सीखने के लिए बाध्य करना समझ का फेर है। उस में सफलता प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है। रही सरकारी विभागों में से बुराइयां दूर करने की बात सो उन से न तो शासकों और शासितों के बीच की खाई पट पाएगी, न बुराइयां दूर हो सकेंगी, और न न्याय ही बरता जा सकेगा। इस समय कंपनी के बहुत कम भारतीय नौकर अंगरेज़ी जानते हैं। कलकत्ते से बाहर भी लोगों का अंगरेज़ी का ज्ञान बहुत कम है। और फिर हिंदुस्तानी से अनभिज्ञ सिविलियन अंगरेज़ उन्हीं भारतीयों को नौकर रखना पसंद करेंगे जो अंगरेज़ी जानते हैं। साहबों की सहूलियत की वजह से उन का वहां एकाधिपत्य हो जाने की आशंका है। और फिर दुभाषियों को रखने की जिस प्रथा को हम मिटाना चाहते हैं वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इस के अतिरिक्त अंगरेज़ी न जानने वाले तमाम नौकर हमें निकाल देने पड़ेंगे। उन की जगह कौन लोग रक्खे जाएँगे? कलकत्ते के या मामूली अंगरेज क्लर्क सब काम नहीं कर सकते। वे ऑफिस के सब कामों से अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। अच्छी तरह अंगरेजी जानने वाले जो लोग हैं वे मालदार हैं और नौकरी करना कभी पसन्द न करेंगे। कलकत्ता छोड़ कर भी वे ही क्लर्क बाहर जाएँगे जो बहुत ग़रीब हैं। उत्तर-पश्चिम प्रदेश में आया हुआ ऐसा क्लर्क न तो ठीक तरह अंगरेजी ही लिख-पढ़ सकेगा, और न हिंदुस्तानी ही। पेंशन पाने वाले सिपाहियों और जहाजियों को भी रखने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे केवल नक़लें कर सकते हैं, समझ की उनमें कमी है। लेकिन अंगरेजी के अदालती भाषा हो जाने से सब से बुरा असर हाकिमों और जनसाधारण के बीच के सम्बन्ध पर पड़ेगा। उन दोनों के बीच एक ज़बरदस्त खाई बन जाएगी और अंगरेज तिजारतियों की दिक्क़त वैसी ही है जैसी उन को रूस, जर्मनी, या फ्रांस जाने पर होगी। उन्हें यहाँ किसी ने बुलाया तो नहीं था। वे स्वयं धनोपार्जन के लोभ से यहाँ आए हैं। उस पर भी वे यह चाहते हैं कि उन की आसानी

के लिए करोड़ों आदमियों पर एक व्यर्थ का बोझा लाद दिया जाय। ये सब बातें कभी न्याय-संगत नहीं मानी जा सकतीं। वास्तव में हम भारतवासियों को जंगली और जाहिल समझते हैं। परन्तु ऐसा समझना या उन पर एक विदेशी भाषा लाद देना हम जैसे सभ्य जाति के लोगों को शोभा नहीं देता।"[1]

नौकरी करने वालों की बात छोड़ दीजिए। जीविका-निर्वाह के लिए वे चाहे जिस भाषा को सीख सकते थे और सीखते हैं। सरकार चाहती तो अपनी राज्य-शक्ति के बल पर वह हर एक भारतीय बच्चे को अंगरेज़ी सीखने और लिखने-पढ़ने के लिए बाध्य कर सकती थी। लेकिन यह बिल्कुल असंभव था। यह उस समय संभव हो सकता था जब कि भारतवासियों के पास अपना कुछ न होता और वे जंगली होते। इस लिए अंगरेज़ी का राग अलापने वाले लोगों का मन चाहा न हो सका। संस्कृत, अरबी और फ़ारसी पर तो जरूर अँगरेज़ी को तरजीह दी गई और साथ ही वह राज-भाषा और उच्च शिक्षा का माध्यम भी बनी रही। लेकिन सरकार ने लोकभाषाओं का स्थान अंगरेजी को देने का प्रयत्न कभी न किया। सन् १८३७ के रेग्यूलेशन के अनुसार अदालतों से फ़ारसी हट जाने पर लोक भाषाओं को उस का स्थान दिया गया।

एक ओर यदि अंगरेज़ी भाषा का प्रचार करना अन्यायपूर्ण था, और उस से भारतीय जन-समाज के हित की कोई सम्भावना नहीं थी, तो दूसरी ओर संस्कृत, फ़ारसी और अरबी भी मृत भाषाएँ हो चुकी थीं। संस्कृत यद्यपि इसी देश की भाषा थी, परन्तु शताब्दियों पहले से वह जनता की भाषा न रह गई थी। हाँ, जनता का उससे आध्यात्मिक सम्बन्ध अवश्य था, उस के आध्यात्मिक जीवन के लिए संस्कृत कामधेनु के समान थी। जनता को छोड़ कर संस्कृत भाषा विद्वान् पण्डितों के पठन-पाठन का विषय बराबर बनी हुई थी। अरबी और फारसी विदेशी भाषाएँ थीं। विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ इन दोनों भाषाओं का आगमन भी इस देश में हुआ और सरकारी काम-काज फारसी में होने लगा। जीविका निर्वाह के लिए अनेक भारतवासियों ने भी अरबी-फारसी का अध्ययन किया। परन्तु मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद उनका प्रचार भी बहुत कम हो गया था और वे केवल उच्च श्रेणी के मुसलमान वन्शों में अध्ययन की चीज़

---

[1] देखिए, ऑनरबुल फ्रेडेरिक जॉन शोर : 'नोट्स ऑन् इंडिया अफ़ेयर्स', भाग १, २, में भाषा-संबंधी लेख।

रह गई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में तो उन का अध्ययन और कम होता जा रहा था। अस्तु, शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाएँ अव्यावहारिक ठहरीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन तीनों भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न निष्फल हुआ। सन् १८१३ के चार्टर के अनुसार भारत वासियों के ज्ञान की वृद्धि के लिए जो शिक्षा-योजना तैयार की गई उस से कोई लाभ न हुआ। काव्यादि की दृष्टि से तो ये भाषायें सन्सार की किसी भाषा से टक्कर ले सकती थीं, लेकिन विज्ञान, भूगोल, इतिहास, राजनीति आदि के ज्ञान की वृद्धि के लिए वे अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकीं। अंगरेज जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को लेकर यहाँ आए उसकी अभिव्यक्ति के लिए उन में वैज्ञानिक शब्दावली का भी यथेष्ट अभाव था। इन सब बातों को सोचते हुए न केवल अंगरेजी के पक्ष-समर्थकों ने वरन् हिन्दुस्तानी के प्रेमियों ने भी उसका विरोध किया। हिन्दुस्तानी-प्रेमियों का कहना था कि यह तो ठीक है कि अंगरेज़ी भापा में ज्ञान-विज्ञान का भांडार प्रचुर मात्रा में है और भारतवासियों की नैतिक और मानसिक प्रगति के लिए उसका ज्ञान परमावश्यक है, परन्तु यदि अंगरेजी भारतीय जनता के लिए विदेशी भापा है, तो संस्कृत, फ़ारसी और अरबी भी उन के लिए वैसी ही कठिन दुरूह और अप्रचलित है, जिस प्रकार अंगरेज़ी-भाषा-भापियों के लिए ग्रीक और लेटिन। इस लिए जिन लोगों के पास अवकाश और धन है वे अंगरेज़ी के माध्यम द्वारा ही अपने ज्ञान की वृद्धि करें, परंतु, जन-साधारण के लिए अंगरेज़ी ग्रंथों के हिदुस्तानी-रूपांतर प्रकाशित करने का व्यवस्था की जानी चाहिए। जो प्राच्यविद्या-विशारद संस्कृत और अरबी-फ़ारसी की शिक्षा पर ही जोर दे रहे थे, उन के विरुद्ध यह आवाज़ उठाई गई कि अपनी संस्थाओं को वे अपने धन से चलावें। सरकार उन के लिए कोई आर्थिक सहायता न दे।[1] सन् १८३४ के चार्टर के बाद संस्कृत, अरबी, और फ़ारसी शिक्षा का द्वार हमेशा के लिए बंद होगया।

---

[1] "It is to be hoped that Government will shut its ears to the attempts now making by a few individuals learned in oriental lore, to appropriate any part of the small sums destined for the education of the people, to the purpose of teaching Persian, Arabic, or Sanskrit. There is not, in all three languages, any knowledge that will be useful to the people at large. If that learned body are so fully satisfied of the importance of

जिस समय ईस्ट इंडिया कंपनी ने देश के भूमि-भागों पर अधिकार जमाना शुरू किया उस समय अदालतों और दफ़्तरों की भाषा फ़ारसी थी। दिल्ली दरबार में इसी भाषा का प्रयोग होता था। इस नाते कंपनी-सरकार ने भी उसे बनाए रक्खा। परंतु अब वह देश की भाषा नहीं थी। दिल्ली दरबार की अवनति के साथ-साथ फ़ारसी-भाषा का प्रचार कम हो चला था। उस का अध्ययन केवल थोड़े से उच्चवंशीय मुसलमानों और उन हिंदुओं में होता था जिन का संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। उच्चश्रेणी के लोगों के सामने सरकारी नौकरी का कोई सवाल नहीं था। इस लिए जिन का संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकरी करते थे, या करना चाहते थे, वे ही फ़ारसी का विशेष रूप से अध्ययन करते थे। देश में ऐसे लोगों की संख्या काफ़ी थी। परंतु देश की अपार जन-संख्या के सामने यह संख्या बहुत कम थी। और फिर नौकरी करने वाले तो कचहरियों और दफ़्तरों में कोई भी भाषा हो जाने पर उसे सीख लेंगे। ऐसी हालत में नौकरी करने वाले जिस भाषा को लिखें-पढ़ें उसको पराधीन देश की भाषा क़रार कर देना ठीक न होगा। गिलक्राइस्ट ने भारतवर्ष आने पर भाषा-संबंधी गड़बड़ी की ओर सरकार का ध्यान दिलाया। लेकिन हिंदुस्तानी की महत्ता स्वीकार कर लेने पर कंपनी ने फ़ारसी को अदालतों और दफ़्तरों में बनाए रक्खा। वह इस लिए कि उस के शासन का सूत्रपात होने पर फ़ारसी का ही रिवाज था और केवल रूढ़ि के रूप में वह उसे बनाए रखना चाहती थी, फिर चाहे वह रूढ़ि अच्छी थी या बुरी। इस रूढ़ि-प्रियता का परिणाम अच्छा न हुआ। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से फ़ारसी सीख कर निकलने पर भी अंगरेज अफ़सरों का फ़ारसी ज्ञान बहुत थोड़ा था। अभ्यास करने पर वे थोड़ी-बहुत फ़ारसी सीख लेते थे, परंतु न तो अच्छी तरह पढ़ ही सकते थे और न अच्छी तरह से लिख ही सकते थे। उन के लिखने पढ़ने में ग़लतियों की भरमार रहती थी। ऐसी हालत में जिम्मेदार ओहदों पर नियुक्त अफ़सरों से न्याय की आशा कहां तक की जा सकती थी। तत्कालीन बंगाल की छः करोड़ की आबादी में से मुश्किल से ५०० व्यक्ति अच्छी तरह फ़ारसी जानते थे। मुसलमानी

---

these studies to native education, let them exert themselves, and stimulate those natives who are of the same opinion, to support institutions for the purpose, at their own cost."

राजत्व-काल में कम से कम शासक तो फ़ारसी समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के राजत्व-काल में उसे न तो शासक समझते थे और न शासित। इस से शासनप्रणाली में घूसखोरी जैसी तरह-तरह की बुराइयां पैदा होने की संभावना थीं और हुईं भी। वैसे भी अदालतों में सब काम पहले हिंदुस्तानी में होता था, उस के बाद वह फ़ारसी भाषा में लिखा जाता था। इन सब कारणों से सन् १८३४ में फ़ारसी की जगह लोकभाषाओं को दी गई।[1]

अस्तु, देश की शिक्षा और जनता की भलाई का सर्वोत्तम साधन लोकभाषाएं ही हो सकती थीं। अंगरेज़ी संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के विपक्ष की सब बातें लोकभाषाओं के पक्ष में थीं। लोगों के विरोध करने पर भी लोकभाषाओं का पलड़ा ही भारी रहा। इन भाषाओं के पक्ष-समर्थकों का कहना था कि अंगरेज़ों को भारतवासियों द्वारा मान और आदर पाने का सर्वोत्तम तरीक़ा उन की भाषा सीखना है। अदालतों और दफ़्तरों में लोकभाषाओं के हो जाने से अंगरेज़ी और फ़ारसी से अनभिज्ञ लाखों आदमियों को नौकरियां भी मिल सकती थीं। उस समय एक-दूसरे की भाषा न समझ सकने के कारण होने वाले अन्याय की भी कोई गुंजायश न रह सकती थी। इस के अतिरिक्त देश के करोड़ों लोगों को थोड़े से लोगों की सहूलियत के लिए एक विदेशी भाषा या मृत भाषाओं के सीखने पर बाध्य करना बिल्कुल अव्यावहारिक सिद्ध होता। इन सब बातों को सोचकर कंपनी ने लोकभाषाओं की ओर ध्यान दिया।

संक्षेप में कंपनी-सरकार की भाषा-नीति का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है कि वह अंगरेज़ी को राजभाषा बनाना चाहती थी। और धीरे-धीरे वह इस ओर बढ़ भी रही थी। परंतु दिल्ली-दरबार के नाते उसे फ़ारसी को भी स्थान देना पड़ा। देश में फ़ारसी भाषा और साहित्य का ज्ञान थोड़ा-बहुत प्रचलित था। इस लिए अपनी भाषा-नीति में कंपनी को फ़ारसी की व्यवस्था करने में कोई अड़चन पैदा न हुई। मार्क्विस वेलेज़ली हिंदुस्तानी के कट्टर पक्षपाती थे। लेकिन दफ़्तरों की भाषा उन्हों ने भी फ़ारसी रहने दी, यद्यपि फ़ारसी पूरी तौर से न समझी जा सकने के कारण हिंदुस्तानी का प्रयोग भी होता था। फ़ारसी भाषा का विरोध बढ़ जाने पर अंत में सन् १८३७ में उस का स्थान लोकभाषाओं को दिया गया। देशी भाषाओं में जिस भाषा से इस लेख का संबंध है वह हिंदुस्तानी है।

---

[1] फोर्ट विलियम, ४ सितंबर १८३७—१८३७ का ऐक्ट २९

शिक्षा-क्षेत्र के संबंध में तो इतना कह देना ही काफ़ी होगा कि लोकभाषाओं में अंगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित कराने और उन के माध्यम द्वारा देश के विभिन्न भागों में शिक्षा का प्रचार-कार्य श्रीरामपुर मिशनरियों, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (सन् १८१७) और आगरा स्कूल बुक सोसायटी (सन् १८३३ के लगभग) द्वारा हुआ ; जहां तक हमारा उन से संबंध है उन्हों ने हिंदी[1] में अनेकानेक उपयोगी साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित कीं, और हिंदी को ही प्रधानता दी। अल्प-संख्यक समुदाय की भाषा होने के कारण उन्हों ने हिंदुस्तानी में भी पुस्तकें प्रकाशित कीं।

साहबों को सिखाने और अदालतों और दफ़्तरों के काम के लिए कंपनीने जिस देशी भाषा को चुना वह हिंदुस्तानी थी। सन् १८३७ के आईन के फलस्वरूप अदालतों और दफ़्तरों में इसी हिंदुस्तानी का चलन हुआ।

कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़ कर भारतवर्ष में आने के बहुत

---

[1] इस लेख में मैंने हिंदी का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

"शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्रविड, अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है किंतु आजकल वास्तव में इस का व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग में हिंदुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमिभाग की बोलियों और उन से संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमिभाग की सीमाएं पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश के दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खँडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग में हिंदुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र हिंदी ही है। साधारणतया 'हिंदी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता हैं किंतु साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी, आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिंदी भाषा के ही अंतर्गत माना जाता है। हिंदी भाषा का यह प्रचलित अर्थ है। इस समस्त भूमिभाग की जन-सख्या लगभग ११ करोड़ है।"

—डा० धीरेन्द्र वर्मा: 'हिंदी भाषा का इतिहास' (१९३३), भूमिका, पृ. ३५-३६

दिनों बाद तक अंगरेज़ों ने देशी भाषाओं और रीति-रस्मों आदि का ज्ञान प्राप्त करने की कोई चेष्टा न की। कंपनी के राज्य का शासन-प्रबंध उन कर्मचारियों के हाथ में था जो सोलह वर्ष की अवस्था में ही भारतवर्ष चले आते थे। उन की भाषा तथा रीति-रस्म-विषयक अनभिज्ञता के कारण मालगुज़ारी और फ़ौजी विभागों का काम अच्छी तरह न हो पाता था। ऐसी हालत में साम्राज्य के बहुत जल्दी हाथ से निकल जाने की आशंका थी। ब्रिटिश राज्य की नींव डालने वाले राबर्ट क्लाइव (सन् १७४३-१७६७) का ध्यान देश से धन बटोरने में लगा रहा। उन्हों ने राज्य-संबंधी विधान और शासस -सुधारों की ओर अधिक ध्यान न दिया। वे कंपनी के कर्मचारियों की दशा सुधारने और उन के देश विषयक ज्ञान की अभिवृद्धि की बात न सोच सके। हेस्टिंग्ज़ (सन् १७८०) ने भी क्लाइव की नीति का अनुसरण किया। कॉर्नवालिस (सन् १७८६-१७९३) ने कंपनी में कुछ सुधार किये, लेकिन कर्मचारियों की शिक्षा-प्रणाली और साम्राज्य की नींव क़ायम रखने के लिए उन्हें नीति-कुशल बनाने का उन्हों ने भी कोई प्रबंध न किया। मार्क्विस वेलेज़ली (सन् १७९८-१८०५) का ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया। वे कंपनी के कर्मचारियों को कुशल व्यापारी नहीं, वरन् चतुर और कूटनीतिज्ञ शासकों के रूप में देखना चाहते थे। उन का कहना था कि भारतीय साम्राज्य जैसी अनमोल वस्तु को पाकर हमें भारतवासियों की भाषाओं तथा रीति-रस्मों का ज्ञान प्राप्त कर उन के संरक्षक की हैसियत से शासन की बागडोर भली भांति सम्हालनी चाहिए।[1] उन की इस नीति की तह में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ करना था। इन सब बातों को सोच कर मार्क्विस वेलेज़ली ने श्रीरंगपट्टम की विजय के प्रथम वार्षिकोत्सव–४मई, सन्१८०० के दिन कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।[2] उस में उन्हों ने भारतीय भाषाओं, अरबी, फारसी,

---

[1] The Civil Servants of the English East India Company, therefore, can no longer be considered as the agents of a commercial concern . . . . . and with the political and commercial interests of Great Britain in Asia . . . . . .
आदि। देखिए, वेलेज़ली कृत फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विषय में "मिनिट इन कौंसिल", १८ अगस्त, सन् १८००।

[2] 'ए, डी. १८०० रेग्यूलेशन ९।१० जुलाई, सन् १८०० का छपा हुआ ओरिजिनल कंसलटेशन (ओ. सी.) नं. २०, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट।

विज्ञान, आईन, राजनीति, अर्थ-विज्ञान, गणित, यूरोपीय भाषाओं आदि के पठन-पाठन की व्यवस्था की।

अस्तु, यह तो निर्विवाद है कि कंपनी सरकार ने अँगरेजी भाषा के बाद फ़ारसी भाषा और हिंदुस्तानी भाषा को अपनाया, सन् १८३७ के रेग्यूलेशन में फारसी के स्थान पर लोकभाषाओं को स्थान देने का उल्लेख है। किन्तु वह लोक भाषा हिंदी न होकर हिन्दुस्तानी (जैसा कि पहले था) हुई। ऐसा क्यों हुआ, इस पर आगे विचार किया जायगा।

फारसी भाषा के विषय में तो कोई झगड़ा नहीं है। किन्तु हिन्दुस्तानी भाषाकी उत्पत्ति, उसके रूप, अर्थ आदि के विषय में विद्वान् काफी उलझन में पड़े हुए हैं। इस उलझन के सुलझ जाने से ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा-नीति और भी साफ हो जाएगी।

ईस्ट इंडिया कंपनी की हिंदुस्तानी के रूप और अर्थ पर विचार करने से पहले हिंदुस्तानी भाषा के दो अर्थ समझ लेना ठीक होगा। कंपनी के राजत्व-काल में हिंदुस्तानी भाषा का एक शास्त्रीय अर्थ मिलता है, और दूसरा व्यावहारिक अर्थ। शास्त्रीय अर्थ में हिंदुस्तानी से सूबा हिंद की मूल जनता की उस भाषा से तात्पर्य था जिस में ठेठ (हिंदी) शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था और जो न तो शुद्ध संस्कृत की शब्दावली से भाराक्रांत रहती थी और न अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी हुई। हिंदी और उर्दू इसी मूल हिंदुस्तानी के दो साहित्यिक रूप थे और हैं। यही मूल हिंदुस्तानी सब से अधिक समझी और बोली जाती थी और अब भी समझी और बोली जाती है। अंतर केवल इतना ही है कि हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं की तरह सब प्रकार से देश की भाषा है, किन्तु उर्दू का धड़ तो भारतवर्ष में है, और सिर अरब और फ़ारस में है। व्यावहारिक अर्थ में हिंदुस्तानी उस भाषा का नाम था जिस का मूलाधार तो मूल हिंदुस्तानी थी लेकिन जिस में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था, और साधारणतया फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। सन् १७५७ से सन् १८३७ तक हिंदुस्तानी शब्द का उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। ईस्ट इंडिया कंपनी की हिंदुस्तानी का रूप देख कर यही कहना पड़ता है कि उस ने उस को दूसरे अर्थ में ग्रहण किया। उस ने नागरी लिपि का प्रयोग अवश्य किया है, इस का कारण आगे बताया जायगा। आगे भाषा के अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग साधारणतया दूसरे अर्थ में किया गया है।

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा दूसरे अर्थ वाली हिंदुस्तानी के ग्रहण किए जाने का कारण था। भारतवर्ष आने पर अंगरेज़ समाज के केवल कुछ शिक्षित और उच्च श्रेणी के लोगों के जो अरबी-फ़ारसी-दां थे और बातचीत में हिंदुस्तानी का प्रयोग करते थे, संपर्क में आए। उन्हों ने जनता को समझने-समझाने का प्रयत्न नहीं किया, यह प्राय: समस्त तत्कालीन लेखकों ने माना है। अदालतों और दफ़्तरों के संबंध में भी 'नेटिव्ज़' शब्द का प्रयोग अपने-अपने विभागों के देशी उच्च पदाधिकारियों के लिए हुआ है।[1] हिंदुस्तानी बोलते समय ये लोग स्वभावत: अरबी-फ़ारसी के शब्द घसीट लाते थे। समाज के इस छोटे से समुदाय की जिस में, हिंदू और मुसलमान दोनों ही शामिल थे, भाषा वास्तव में उर्दू थी। सूबा हिंद या हिंदुस्तान की भाषा होने के कारण उस का नाम हिंदुस्तानी भी पड़ गया था। अकबर के ज़माने से उर्दू या हिंदुस्तानी का प्रचार शिक्षित जनसमुदाय में हो गया था, ठीक वैसे ही जैसे आज के शिक्षित जनसमुदाय में अंगरेज़ी का प्रचार हो गया है, और उसी से 'इंगलिस्तानी' एक नई भाषा निकल पड़ी है, यद्यपि साहित्य में उस का प्रयोग नहीं होता। गिलक्राइस्ट का और फलत: ईस्ट इंडिया कंपनी का, हिंदुस्तानी से, जिसे वे 'उर्दूवी', 'रेख़्ता' या 'हिंदी' भी कहते थे, उस भाषा से तात्पर्य था जिस के व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप 'हिंदवी'या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिस में अरबी-फारसी के शब्दों (संज्ञा-शब्दों) का बाहुल्य रहता था—बाद को व्याकरण के सिद्धांत भी अरबी-फारसी से लिए जाने लगे और यह प्रवृत्ति दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है, केवल 'का', 'के', 'की', है', 'थे' आदि 'हिंदवी' के रह गए हैं। खैर, इस भाषा को वे ही लोग बोलते थे जिन का संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। और वे भी जहां तक राजकीय कामों से मतलब था वहीं तक इस भाषा का प्रयोग करते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इसी हिंदुस्तानी को, जो धीरे-धीरे फ़ारसी का

---

[1] अदालत के 'नेटिव्ज़' की व्याख्या करते हुए आनरेबुल फ्रेडेरिक जॉन शोर का कहना है—

......we must first understand what is meant by the term "The natives". In this case, it represents some one, two or three native officers in each court, who have the ear of civil functionary, and whose opinion being asked and received, stands for "the result of inquiries among the people."

स्थान ग्रहण करती जा रही थी, अपनाया, न कि मूल हिंदुस्तानी को या मूल हिंदुस्तानी के उस रूप को जो सूबा हिंद की बहुसंख्यक साधारण जनता में प्रचलित था।

कुछ सज्जनों का मत है कि एक तरफ अगर ईस्ट इंडिया कंपनी 'हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों को लोकभाषा तथा लोकलिपि के रूप में अपना रही थी, तो उधर गिलक्राइस्ट महोदय तथा उर्दू की हिमायत में लगे मुँशी यह चाहते थे कि कंपनी के साहब जल्दी से जल्दी फारसी सीख लें। वे उर्दू को लोक-व्यापक बनाने की चेष्टा में लगे थे। यह तो ठीक है कि कॉलेज के तत्वावधान में हिन्दुस्तानी या उर्दू को प्रधानता दी गई। परंतु यह कहना कि कंपनी लोकभाषा को अपना रही थी, ठीक नहीं। लिपि के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है। सन् १८३७ के बाद लिपि-संबंधी व्यवस्था भी न रही। वास्तव में ईस्ट इंडिया कंपनी और कॉलेज की दो अलग-अलग भाषा-नीतियां मानना ठीक न होगा। कंपनी की भाषा-नीति का श्रोत कालेज ही था। कॉलेज की स्थापना से पहले मुंशी लोग भाषा को रंग देने वाले थे। ये मुंशी कंपनी के अफसरों को प्राइवेट तरीके से फ़ारसी और हिंदुस्तानी पढ़ाया करते थे। कालेज में विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर सिविलियन अफसर कॉलेज और गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति लेकर बाहर निकलते थे। जब कभी दुभाषिए या अनुवादक की जरूरत पड़ती थी तो उस की पूर्ति कॉलेज से ही की जाती थी। इस लिए कंपनी और कॉलेज की दो अलग-अलग भाषा नीतियाँ मानना संगत नहीं है। दफ्तर तथा अन्य कामों के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने लोकभाषा को कभी न अपनाया था। लोकभाषा तो वह थी जिस का उल्लेख श्रीरामपुर मिशनरियों ने अपने संस्मरणों में किया है। कॉलेज की भाषा का प्रचार और प्रयोग कंपनी के समस्त सरकारी कामों मे होता था। इसी लिए उस की स्थापना भी की गई थी। कालेज और शासन-प्रबंध का, भाषा की दृष्टि से, अभिन्न संबंध था। इस में कोई संदेह नहीं।[1]

[1] प्रथम वार्षिकोत्सव (६ फरवरी, सन् १८०२), पर भाषण देते हुए कॉलेज के ऐक्टिंग विज़िटर ऑनरेबुल सर जार्ज हिलेरिओ बार्लो ने कहा था—

The establishment of the College of Fort William has excited a general attention to Oriental languages, literature and knowledge, which promises to be productive of the most salutary effects in the administration of every branch of the affairs of the Honorable Company in India.

वास्तव में 'हिंदी', उर्दू और हिंदुस्तानी के 'कंपनी-प्रयोग' का ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकने के कारण कंपनी की भाषा-नीति के विषय में अनेक भ्रमात्मक धारणाएँ फैल गई हैं। कंपनी की भाषा-नीति को ठीक-ठीक समझने के लिए इन शब्दों के तत्कालीन अर्थों को समझ लेना ठीक होगा। परंतु उससे पहले हमें हिंदुस्तानी[1] की उत्पत्ति और उस के विकास पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

—टॉमस रो एबक द्वारा संपादित—'ऐनल्स ऑव दि कालेज आव फ़ोर्ट विलियम', कलकत्ता, १८१९, पृष्ठ १७

The Institution now affords to those students the means of qualifying themselves for the important offices which they are destined to exercise under the British Government in India.

—वही पृष्ठ १९

सातवें वार्षिकोत्सव (२७ फरवरी, सन् १८०८) पर भाषण देते हुए कॉलेज के विज़िटर लार्ड मिंटो ने विद्यार्थियों को संबोधन करते हुए कहा था—

You are about to be employed in the administration of a great and extensive country, in which, it would not be much beyond the truth to say, that the English language is not known. You will have to deal with multitudes who can communicate with you, can receive your commands, or render an account of your performance of them, whose testimonies can be delivered, whose engagements can be contracted, whose affairs, in a word, can be transacted, discussed and recorded only in some one or other, of the languages which are taught at the College of Fort William.

[1] कुछ विद्वानों का मत है कि पाश्चात्य विद्वानों में सब से पहले गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी भाषा का अध्ययन शुरू किया। परंतु बात ऐसी नहीं है। उन से पहले भी पाश्चात्य विद्वानों ने हिंदुस्तानी का अध्ययन किया था। उन्हों ने जिस हिंदुस्तानी का अध्ययन किया उस का रूप क्या था, इस के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

शुरू में अंगरेजों ने हिंदुस्तानी भाषा के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान न दिया। इस का कारण था। जब दक्षिण के पश्चिमी तट पर पोर्चुगीज़ आकर बस गए तो उन्हों ने वहां की बोली सीखने का प्रयत्न किया। परंतु गोआ की पोर्चुगीज़ सरकार की नीति भिन्न थी। वह अपने धर्म और पोर्चुगीज़ भाषा का ही प्रचार करना चाहती थी। इस के लिए उस ने पादरियों को बाध्य भी किया। इस के परिणाम-स्वरूप

हिंदुस्तानी शब्द का अर्थ सूबा हिंद या हिंदुस्तान से संबंध रखने वाले का है। इस प्रदेश के निवासी और भाषा हिंदुस्तानी कहलाते हैं। 'हिदुओथान' शब्द का प्रयोग तो चंद ने किया है, परंतु 'हिंदुस्तानी' शब्द का भाषा के संबंध में पहले-पहल कब प्रयोग हुआ, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तो भी अठारहवीं शताब्दी या उससे कुछ पहले

भारतीय-पोर्चुगीज़ धर्मावलंबियों में पोर्चुगीज़ भाषा का प्रचार हुआ। ये भारतीय पोर्चुगीज़ भाषा को शुद्ध रूप में न बोल कर विकृत रूप मे बोलते थे। १८ वीं शताब्दी में जब ये लोग देश के भीतरी भागों और बंदरगाहों में जाकर बसने लगे तो उस भाषा को भी अपने साथ लेते गए। इन स्थानों के योरप निवासियों ने इसी विकृत पोर्चुगीज़ भाषा को अपनाना शुरू कर दिया। वे हिंदू और मुसलमान सौदागरों के साथ व्यापार भी इन्हीं नवागतुंओं के द्वारा करने लग गए। उन्हों ने इन से दुभाषिए और क्लर्की आदि का काम भी लिया।

अस्तु, बंगाल पर विजय प्राप्त करने से पहले अंगरेज़, डच और फ्रांसीसियों का न तो हिंदुस्तानी भाषा की ओर ध्यान ही गया और न उन्हें सीखने की आवश्यकता ही हुई। शुरू में ईसाई मिशनरियों ने हिंदुस्तानी की ओर ध्यान न दिया। सन् १७४३ ई० में मिलियस नामक एक व्यक्ति ने हिंदुस्तानी का अध्ययन कर लीडन से एक पुस्तक प्रकाशित की। परंतु उसे अपने परिश्रम में अधिक सफलता न मिली। दो साल बाद यानी सन् १७४५ ई० में शुल्ज़ियस नामक एक और व्यक्ति ने हल से 'ग्रैमैटिका हिंदुस्तानीका' प्रकाशित कराई थी। परंतु उस का कार्य भी संतोषजनक न रहा और न उस से कोई मतलब ही सिद्ध हो सका।

बंगाल में अंगरेज़ी राज्य के पूर्णरूप से स्थापित हो जाने पर अंगरेज़ों को विजितों की भाषा न जानने के कारण बड़ी असुविधाएं हुई। उन की फ़ौज में बहुत से देशी सिपाही थे जो अपनी बोली के अतिरिक्त और दूसरी बोली समझ ही न पाते थे। आगरा प्रांत का सिपाही ब्रजभाषा ही बोलता और समझता था। फ़ौज में मुसलमान सिपाही भी थे और देश के अन्य विजित भागों के सिपाही भी। इसलिए फ़ौजी अफ़सरों को अपने सिपाहियों से संपर्क बढ़ाने के लिए उन की बोलियों का जानना अनिवार्य था। तत्कालीन सिविलियनों को शासन के सुसंचालन के लिए उन प्रांतों की बोलियां जानना आवश्यक था जिन में वे नियुक्त किए जाते थे। इस के लिए कंपनी के कर्मचारियों में से बुद्धिमान लोगों ने हिंदुस्तानी का अध्ययन आरंभ कर दिया। वैन्सीटार्ट के समय में गल्सटन नामक व्यक्ति ने जो फारसी भाषा का दुभाषिया था, हिंदुस्तानी पर एक लेख लिखा। यह लेख उस की मृत्यु के बाद छपा

भाषा के अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग मिलता है। अभी हाल ही में २०० वर्ष पुराना एक ग्रन्थ मिला है जिस में हिंदुस्तानी का भाषा के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[1] उससे उर्दू भाषा का बोध नहीं होता। याद रहे उल्लिखित स्थान पर 'हिंदुस्थानी' का अर्थ मूल हिंदुस्तानी या हिंदी है और वह ईस्ट इंडिया कंपनी की हिंदुस्तानी से अनेक अंशों में भिन्न है। यह पहले बताया जा चुका है कि अँगरेज़ों ने जिस हिंदुस्तानी को अपनाया वह उन लोगों की हिंदुस्तानी थी जो अरबी-फ़ारसी-दां थे, उच्च श्रेणी के थे और जिन का संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। जनसाधारण में प्रचलित भाषा के संपर्क में वे न आए थे। २०० वर्ष पुरानी हिंदुस्तानी में केवल सर्व साधारण में प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है जो वास्तव में बिल्कुल ठीक ही था। इस २०० वर्ष पुरानी हिंदुस्तानी का एक नमूना देखिए—

> "स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य फलाने के राम राम। आगे हम को कागद लिखी थी सो हम पाया। सभ हकीकति पाइ। तुम लिखा यो हमारे मुलक् यां फलाना जबर्दस्ती सो सभ मुलक का खुचारी करता हे तिस का इलाज कुछ किये चही। एते हेन् भी इस बात को बहुत छहाते ते हे यो उस का इलाज करीएगा तिस वास्ते तुम उसके मुलुक उपर आपनी फौज भेज देव को भी लिखते तुं हम भी फोज भेजंगे फेर्थोड़े दिन सो ई का इलाज हो वे जगा। किस बात की फिकीर मति करो। परमेश्वर सब का भला करेगा। बहुत क्या लिखना।"

था। बाद को यह लेख गिलक्राइस्ट के हाथ पड़ गया था। गल्सटन की मृत्यु से कंपनी के कर्मचारियों में हिंदुस्तानी के प्रचार-कार्य को धक्का पहुँचा। गल्सटन के बाद डॉ. हैरिस का नाम उल्लेखनीय है। वे मद्रास में थे। उन्होंने एक "हिंदुस्तानी-अंगरेजी-कोष" प्रकाशित किया। इस के बाद विलियम कर्कपैट्रिक ने "हिंदुस्तानी व्याकरण और कोष" प्रकाशित कर व्याकरण की कमी पूरी की। सन् १७८५ ई० में उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में एक बृहत् ग्रंथ प्रकाशित करने की आयोजना निकाली परंतु उसे वे पूरा न कर सके। इन के अतिरिक्त हलहेड, ग्लैडविन आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

[1] हज़ारीप्रसाद द्विवेदीः '२०० वर्ष पुरानी खड़ीबोली के नमूने—'विशाल भारत', भाग २५, अंक ४, पूर्णांक १४८, चैत्र, १९९६ सं.: अप्रैल १९४० ई., पृ. ३६६-३७०

जैसा कि इस अवतरण से प्रकट होता है इस में केवल जनसाधारण में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। कंपनीने जिस हिंदुस्तानी को अपनाया उस में शुद्ध, तत्सम और अप्रचलित अरबी-फारशी शब्दों का प्रयोग हुआ है और शैली भी अवतरण की शैली से भिन्न है। साथ ही अवतरण वाली भाषा को खड़ी बोली और हिंदवो या हिंदुई भी कहा गया है। ब्रजभाषा को भी हिंदुई कहा गया है। इस से साफ़ ज़ाहिर होता है कि तत्कालीन हिंदुई और आधुनिक हिंदी का एक ही अर्थ और कुछ लोगों का खड़ीबोली को हिंदी से अलग कर केवल उर्दू के साथ जोड़ना बिल्कुल ग़लत है।

कंपनी ने जिस हिंदुस्तानी को अपनाया उस की उत्पत्ति पर विचार करते समय प्राय: सभी लेखक—अँगरेज़ और भारतीय दोनों—हिंदवी या हिंदुई को उस का आधार मानते हैं। यह हिंदवी मुसलमानों के आक्रमण से पहले समस्त भारतवर्ष में प्रचलित थी, और समस्त काम-काज उसी मे होते थे। इस की नींव पर जो प्रासाद खड़ा किया गया उसका वर्णन इस प्रकार है—

"अरब के सौदागरों की आमद ओ रफ़्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति क़ेआभी के बाइस अलफ़ाजि अरबी और फ़ारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गए और ऐक ज़बान नई बन गई जैसे कि बुनियादि कदीम पर तामीरि नौ होवे।

"ग़रज़ रफ़्तः रफ़्तः इस जबानि जदीद ने यिह सूरत और रौनक़ पकड़ी और दिहली के अहलि दरबार ने चाहा कि यिही बोली हमारे उन कामों में जो ज़बान से तअल्लुक़ रखते हैं वसीलः हो तब यिह बतदरीज हर तरफ़ फैली चुनांचि नतीजः इस का यिह हुआ कि हर एक मुसलमानी दरबार छोटे और बड़े में भी एक मुद्दत में हिय नई ज़बान जारी हुई।

"आख़िरुल अमर यिह बोली हिन्दूस्तान सब को अजीज़ और प्यारी हुई और अकसर मुतवत्तिनों ने इसी मुरक्कब ज़बान पर राग़िब हो कर इस को अख़ज़ कीआ कि अपने ऐसे मुआमलात जिन का इस्तिहकाम मौक़ूफ़ तहरीर पर न हो उन में इसी से क़लाम करें।

"जो इख़्तिलात मुसलमानों का हिन्दुओं के साथ कई सबब और वजह से कबही कसरत से हूआ और कबही

किल्लत से—पस इसी वास्ते हिन्दी ज़बान में अजनबी अलफ़ाज़ों की आमेज़िस कवही कसीर कवही क़लील हुई।

"यिह इख़्तिलाफ़ ज़वान का तीन वजह से बाहर नहीं याने मुहावरऐ क़दीम या दिहाती—अमुमी या शहरी—दरबारी या इल्मी जो कोई चाहे इन तीनों का इमतियाज़ बख़ूबी करे कि हर ऐक का मक़ाम जुदा जुदा और फ़ाऐदः हिन्दूस्तान की हर ऐक क़ौम को क़वाइल अलाहिदः अलाहिदः।

"पैहले मुहावरे में अजनबी अलफ़ाज़ कम दख़ील हूऐ हैं इसी वास्ते वुह अपन जगह की देशी भाषा से अकसैर ज़ीआदः निसवत रखता है और सदरे में तख़मीनन् अजज़ाऐ मख़लूती जुज़ि असली के मुतसावी हैं तीसरे में अरबी और फ़ारसी अलफ़ाज़ की ज़ीआदती कमाल है।"

× × ×

"ओ यिह बात साहिवि फ़िक्र पर अयां है कि किसी मुल्कि वसी में अगरचि बहुत देशी भाषा बल्कि बाज़ी ज़वानें मुख़तलफ़ भी बोलने में आती हैं तौ भी दरबारी और दारूस्सलतनत की ज़वान ला कलाम फ़ाइदे में औरों पर तरजीह रखती है ओ इसी सबब से वहां सब कोई क्या मुतवत्तिन क्या अजनवी पैहले इसी को मुक़द्दम जान कर इसत्यामाल में लाते हैं।"

× × ×

"हिन्दूस्तान की तमाम सर ज़मीन में कम कोई मुसलमान नज़र आवेगा जो हिन्दूस्तानी ज़बान समझता या बोलता न होगा।

"हिन्दू भी जो क़दरे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अंगरेज़ी क़ौम से जिस को कुछ ऐलाक़ः है थोड़ी-बहुत हसविहाल अपने नहीं हो सकता कि न जानें।"

× × ×

"सेतबंध के क़रीब से काबुल तक ऐक मुल्क कि जिस की लंबाई हज़ार कोस कम ओ वेश और चौड़ाई सात सै कोस तख़मीनन् है—बड़ी गंगा के इस तरफ़ उस में जिन वस्तीओं ओ शहरों पर मुसलमानों का तसरुफ़ ओ आमेज़िश हुई उन्हों में ऐसे आदमी कम पाऐ जाऐंगे जो हिन्दूस्तानी

ज़बान वक़द्र ज़रूरत के न जान्ते होंगे। क़िता नज़र इस से कि गंगा के उस पार भी अकसर जगहों में मशहूर ओ मुरव्वज है।"

× × ×

"अगरचि किसू ऐक जारी ज़बान में इल्मी किताबों की क़िल्लत हो तो हो लेकिन वही ज़बान उमराति मुल्की तजारती लश्करी और अदालती के वसीले के वास्ते सब ज़बानों से उस दयान में मुफ़ीद ओ मुनासिब है।"

(ऐसेज़ एंड थीसेस कंपोज़्ड से)

ये उद्धरण विलियम बटरवर्थ बेली के सन् १८०२ में लिखे गए हिन्दुस्तानी के दावे से लिए गए हैं। बेली गिलक्राइस्ट के शिष्य थे और उन के दावे में गिलक्राइस्ट के हिन्दुस्तानी-संबंधी विचारों की प्रतिच्छाया है। कहना न होगा कि ऊपर जिस भाषा का वर्णन है वह देहली दरबार की ईजाद की हुई भाषा थी। उस का जनता—हिन्दू या मुसलमान—से कोई संबंध नहीं था। वह शाहजहां के बसाए हुए शाहजहांनाबाद से निकली थी। अन्य अनेक भाषाओं के शब्द निकाल कर उस में अरबी-फ़ारसी के अजनबी शब्दों की भरमार कर एक नई भाषा बना दी गई थी।[1] इस नई भाषा का नाम उर्दू या बाद को हिन्दुस्तानी (दूसरे अर्थ में) रक्खा गया। पदटिप्पणी में जो अवतरण दिया गया है उस में शाहजहां, शाहजहानाबाद और दिल्ली दरबार का जिक्र आया है। कहा गया है कि यहीं उर्दू भाषा का जन्म हुआ और यहीं वह पुष्पित-पल्लवित हुई। इस विषय में सैयद इंशा का कहना है कि—

---

[1]'कलकत्ता रिव्यू' सन् १८४५।

......It was however reserved for a successor, whose splendour is still attested by the new city of Delhi, the Jama Masjid, and the never forgotten Taj Mahal, to establish, in the fort of the metropolis on which he bestowed his own name, a perpetual fountain whence should flow the living waters of Urdu,—pure, repaid and unceasing. The nativ author (Meer Amman) quoted above mentions the reign of Shahjahan as that in which the language was finally consolidated......

* * *

We have before this described the successive blow of each Mussulman soldier of fortune to which India was forced to bow

"शाहजहानाबाद में खुशबयान लागो ने एक मत हो कर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया, कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अगल नई भाषा ईजाद की और उस का नाम उर्दू रख दिया।"

'कलकत्ता रिव्यू' से उद्धृत अवतरण के लेखक ने लिखा है—

"लेकिन हमारा विषय (हिन्दी) बोली का पहला नहीं वरन् बाद का रूप है; और इस लिए हम उस समय पर पहुँचते हैं जब कि कवियों ने पहले-पहल विदेशी शब्दों को प्रचलित किया और फ़ारसी के कोमल स्वरों से हिन्दी की शुष्कता दूर की। इन कवियों में सब से पहला वली है जो १७ वीं शताब्दी के अंत में हुआ। उस के बाद बहुत से ऐसे कवि हुए।"[1]

We then showed that Babel of tongues must have prevailed in the camp of the invader, and how repeated attacks, though marked by blood and not by civilization, must in all probability have filed (or filled), changed and enriched the old vernacular dialect. But we will ask our readers to go a step beyond this and visit that camp when pitched no longer for battle, but in accordance with the prevalent custom of Eastern monarchs, for the annual march throughout the subject territory......

The King's camp, which after the fashion prevalent with us in India upto the present day, but on a far humbler scale, had been the place where the Urdu language set up its main standard; and Urdu of the purest kind is now the speaking language of the large population of Mussulmans and the few Hindus interspersed among them in and about the fort of Delhi. The real extent of the language as a speaking medium, though considerable, is far less than is generally supposed.........

[1] But our present subject is the later and not the earlier form of dialect; and we therefore proceed to the time when the poets first began to introduce foreign words, and to break the harshness of the Hindi with the softer tones of the Persian. The earliest of these is Wali, who flourished at the end of the seventeenth century; and a long time of successors have sprung up in his train.

इस में वली का ज़िक्र आया है। उस ने और उस के पीछे के कवियों ने क्या किया उस का हाल इस प्रकार है—

"सन् १७०० के पीछे वली ने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिन्दीपन को रहने दिया। उस की उन रचनाओं में हिन्दी काव्य-परंपरा के कुछ शब्द, भारतीय कथा-प्रसंगों के कुछ संकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं।....

"पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि 'ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े है, इन्हें काम में ला'। फिर तो वली ने अपना रुख़ ही पलट दिया।....

"पहले के दक्खिनी शायर तो देश की श्रुति-रुचि के अनुसार जगह को 'जाघा' और अलहदः को 'अलाधा' तक लिखते थे। फ़ारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिन्दी व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के क़ायदे पर 'उश्शाक़' रखा है और फ़ारसी समास के ढंग पर 'नशए-फ़राग़' और 'साहबे दिमाग़'। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। क़ायम ने सन् १७२० ई० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

"यहां से अब दिल्ली के शायरों की परंपरा उर्दू-साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्हों ने फिर हिंदी के शब्दों की छँटाई की, जिस का वर्णन उन्हों ने आप ही इस प्रकार दिया है--

" 'लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी के क़रीबुलफ़हम व कसीरुल-इस्तअमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ा याने हिन्द व फ़सीहाने रिंद दर महावरः दारंद मंज़ूर दाश्तः। सिवाए आं ज़बान हिन्दवी कि आँरा भाखा गोयंद मौक़ूफ़ करदः।'

"तात्पर्य यह कि हातिम ने अरबी-फ़ारसी के शब्द ला-ला कर रखे और हिन्दी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी-फ़ारसी के बीच हिन्दी के वे ही शब्द और मुहावरे रहने पाए जिन्हें शाहज़ादे और सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई।"[1]

[1] स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्लः 'हिंदुस्तानी का उद्गम', सं. १९९६ वि., पृ. ६-७

उपर्युक्त अवतरण इस लिए दिए गए हैं ताकि उर्दू या हिंदुस्तानी के रूप से पाठक भली भाँति परिचित हो जायँ। अँगरेज लेखकों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की हिंदुस्तानी का जिक्र करते हुए उसकी परिभाषा ऊपर दिए गए अवतरणों के अनुसार ही दी है। हिंदवी के मूलाधार पर काट-छाँट कर के जो एक कृत्रिम भाषा पैदा की गई उस का जन्म राज-दरबारों और उन से संबंधित लोगों के बीच में हुआ। जनसाधारण के बीच उस का जन्म न हुआ था और न वह 'मुश्तरक:' जुबान ही थी। एक पहले अवतरण(देखिए पृ० १५१) के अँगरेज लेखक ने मीर अम्मन को उद्धृत करते हुए लिखा है—

......When they came to live, traffic, buy and sell amongst each other, one single language termed Urdu, became definitely fixed.

इस से पहले वह कहता है--

......the camp of the army was fixed in the city, and the bazar itself, received the name of Urdu,

परंतु अँगरेज लेखक आगे चल कर लिखता है—

The king's camp, which after the fashion prevalent with us in India upto the present day, but on a far humbler scale, have been the place where the Urdu language set up its main standard.

शाही शिविर के साथ फ़ौज भी चलती थी, लड़ाई के लिए नहीं वरन आमोद-प्रमोद या देश में दौरा लगाने के लिए। मीर अम्मन का वक्तव्य इस विषय में स्पष्ट नहीं है। परंतु सैयद इंशा का कहना है--

> "यह मजमा जहाँ कहीं जाता है उनकी औलाद को दिल्ली-वाल और उन के मुहल्ले को 'मुहल्ल: अह्ले देहली' कहते हैं। और अगर यह लोग सारे शहर में आबाद हो गए उस शहर को उर्दू कहते हैं, लेकिन सिवाय लखनऊ के इन लोगों का किसी और शहर में जमा हो जाना फ़क़ीर के नज़दीक साबित नहीं। गो मुर्शिदाबाद और अजीमाबाद के बाशिन्दे बज़ातखुद अपने को 'उर्दू दाँ' और अपने शहर को 'उर्दू' समझते थे।[1]

सैयद इंशा के इस कथन से सिद्ध हो जाता है कि 'उर्दू का साधारण अर्थ में बाजार या लश्कर से कोई संबंध नहीं'। वह 'दिल्ली की लाड़ली और 'शाहों की गोदों की पाली हुई' थी।

---

[1] 'बिहार में हिंदुस्तानी' (१९९६ सं०) से उद्धृत, पृ० ६

अस्तु, अँगरेज़ी और फ़ारसी के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने जिस भाषा को अपनाया वह हिन्दुस्तानी थी जिस की उत्पत्ति आदि का वर्णन ऊपर दिया गया है। यह भाषा जनसाधारण में अप्रचलित थी। यह भाषा मूल हिन्दुस्तानी या इंशा की ठेठ हिन्दी ('रानी केतकी की कहानी') या २०० वर्ष पुरानी हिन्दुस्तानी से सर्वथा भिन्न है। ईसाई मिशनरियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह जनता में बोधगम्य थी। उन की और ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा में बहुत अन्तर है। ईसाई मिशनरियों ने कंपनी की भाषा-नीति का विरोध भी किया था।

यहाँ पर यह बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा कि कुछ लोगों का यह कहना कि, १९ वीं शताब्दी के शुरू में गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लिखे गए 'प्रेमसागर' के अनुकरण पर हिन्दी-लेखकों ने चुन-चुन कर अरबी-फारसी शब्दों को निकालना शुरू कर दिया, और एक नई बनावटी भाषा हिन्दी पैदा कर दी जिस का पहले कभी अस्तित्व नहीं था, बिल्कुल गलत और अनर्गल बात है। वस्तुतः बात इस से ठीक विपरीत है। जैसा कि स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' में दिखाया है, कुछ थोड़े से मुसलमान शायरों और शाहज़ादों ने हिन्दी में से हिन्दीपन और हिन्दी के शब्द निकाल-निकाल कर अरबी-फारसी के तत्सम और अप्रचलित शब्दों की भरमार कर एक नई बनावटी ज़ुबान उर्दू बना ली। यह कार्य १७वीं शताब्दी के अन्त से शुरू हो गया था। और फिर जो लोग 'शुद्ध हिन्दी' (प्रेमसागरी हिन्दी) कह कर हिन्दी वालों पर आरोप करना चाहते हैं उन्हों ने या तो हिन्दी साहित्य और भाषा का अध्ययन ही नहीं किया या वे लोग जान बूझ कर ऐसी बात कहते हैं जो सत्य नहीं। 'शुद्ध हिन्दी' जैसी चीज केवल 'प्रेमसागर' ही में मिल सकती है। विदेशी शब्दों को अपनाने में हिन्दी ने सदैव अपनी सजीवता का परिचय दिया है और इसी बल पर आज वह जीवित है। थोड़े-से पादरी लेखकों को छोड़ कर लल्लूलाल की भाषा को किसी हिन्दी साहित्यिक ने न अपनाया। राजा लक्ष्मण सिंह की हिन्दी राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप थी। हिन्दी भाषा की प्रतिभा सदैव तुलसी और सूर, देव और बिहारी, ग्वाल और पद्माकर, भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द की अनुगामिनी रही है और रहेगी। साथ ही संस्कृत का प्रभाव हिमालय के समान अटल रहेगा।

अब देखा जाय कि कंपनी ने जिस हिन्दुस्तानी को अपनाया क्या वह

'आम फ़हम' थी। विस्तार में न जाकर मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि यह भाषा 'ख़ास फ़हम' ज़रूर रही 'आम फ़हम' वह कभी न थी और न है। अपने कथन के समर्थन में मैं अनेक प्रमाण दे सकता हूँ, किन्तु विस्तार-भय से मैं ऐसा न करूँगा। केवल नीचे कुछ ख़ास-ख़ास उद्धरण दिए देता हूँ, विद्वज्जन स्वयं निर्णय करें।[1] जो भाषा सर्वसाधारण में बोधगम्य थी वह

---

[1] 'कलकत्ता रिव्यू' से लिए अवतरण के लेखक ने हिंदुस्तानी या उर्दू के विषय में लिखा है—

The real extent of the language as a speaking medium though considerable, is far less than is generally known.

सन् १८२४ में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज कौंसिल के मंत्री डी० डी० रडेल ने लिखा है—

The Hindoostanee as it is taught in the College distinguished by the titles of Oordoo, Delhi Juban etc., or the language of the Court of Delhi, is used for colloquial purposes, among the higher classes of the natives, and especially of Mahommedans, throughout India, but having been introduced by the Moghuls and being chiefly derived from Arabic, Persian and other Western or Northern sources, it may still to the Hindoos at large be considered as a foreign tongue (Letter from D. D. Ruddell to C. Lushington, Secretary to the Government, General Department, dated College of Fort William, 24th Sept. 1824).

—फ़ोर्ट विलिमय कॉलेज की प्रोसीडिंग्ज़, जिल्द ९, पृ. ४९६ इंपीरियल रेकॉर्डस डिपार्टमेंट।

रडेल कॉलेज में हिंदुस्तानी के परीक्षक भी रहे थे। हिंदुस्तानी को उन्होंने भी उर्दू, देहली ज़ुबान अथवा दिल्ली दरबार की ज़ुबान लिखा है। यही हिंदुस्तानी थी जिसे कंपनी ने अपनाया।

सन् १८२५ में राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लार्ड ऐमहर्स्ट ने कॉलेज के वार्षिकोत्सव पर भाषण देते हुए कहा था—

In former times, when English gentlemen, comparatively few in number were required to communicate chiefly with the natives of rank or influence, by whom the details of civil administration were conducted, knowledge of Persian, the language of official record, and Hindoostanee, the medium of

हिंदी थी, न कि कंपनी की हिन्दुस्तानी या उर्दू ।[1] लोग यह तो कहते हैं कि अरबी-फारसी-शब्दों के मेल से एक नई भाषा बन गई । लेकिन ऐसा कहते समय वे भूल जाते हैं कि यह भाषा मुट्ठी भर इम्त्याज़ी लोगों की भाषा थी। इन से अलग अपार जन-समूह की अपनी भाषा थी जिस का दिन-रात प्रयोग होता था । इतिहास इस बात का साक्षी है ।

---

personal communication among the higher orders, might enable the possessor adequately, to discharge the functions that ordinarily belonged to the civil servants of the Company.

But that State of things has long since ceased to exist. You are now constantly called upon to administer Justice to the humblest, to ascertain the rights and interests and institutions of the rudest classes......

But if you cannot speak their language (Persian and Oordoo are nearly as foreign to them as English), the best laws of the Government will be a mockery......

—टॉमस रो एबक द्वारा संपादित—'ऐनल्स ऑव् दि कॉलेज ऑव् फोर्ट विलियम' कलकत्ता, १८१९, नं० २५

[1]It is not easy accurately to define the limits within which Hindi is the vernacular. In a general way it may be said to be so in Behar, Oude, the Rajputana states, and all that is under the jurisdiction of the Lieutenant Governor of the North-West provinces. Travellers say that they can make their way all over India by means of Hindi. All educated Mussulmans speak Urdu; but the lower non-agricultural and agricultural Mahommedans verge towards, and generally speak like the Hindus. According to the rough statistical return, published by the Government of the North-West, the proportion of Hindu to Mahommedan is as nine to one, and if Behar and the Sagur and Nerbudda territories were included this proportion would probably rise.

......The mass of the population who live apart from educated Mahommendans or Europeans, and have had little to do with courts, will be found to speak in a manner which only a small number of their rulers could understand.......

—टॉम्सन कृत हिंदी-कोष (१८४६) का एक समीक्षक ।

जिस हिंदुस्तानी भाषा का उल्लेख ऊपर किया गया है उसे 'हिन्दी', उर्द या उर्दुई और रेख्ता नामों से भी पुकारा जाता था और वह हिंदुई या हिन्दवी और 'बृजभाषा' से भिन्न थी। हिन्दुई या हिन्दवी और 'बृजभाषा' के विषय में तो नहीं, वरन् 'हिन्दी' हिन्दुस्तानी, उर्दू और रेख्ता का एक साथ और एक अर्थ में प्रयोग होते देख कर अनेक विद्वान भ्रम और उलझन में पड़ गए हैं। एक सज्जन तो यहाँ तक कह बैठे कि राष्ट्रभाषा-निर्माण की नींव फोर्ट विलियम कालेज में गिलक्राइस्ट के शिष्य विलियम बटरवर्थ बेली ने डाली थी! कुछ लोग यदि यह कहने का दावा करने लगते हैं कि उर्दू और हिन्दी में पहले कोई भेद नहीं था, आजकी हिन्दी कल की बनावटी और मनगढ़ंत भाषा है और पहले उस का कोई अस्तित्व नहीं था, तो दूसरी ओर कुछ लोगों को हिन्दुस्तानी को उर्दू के अर्थ में, जैसा कि कंपनी के शासनांतर्गत प्रचलित था, परन्तु जिस का अर्थ ठेठ हिन्दुस्तानी कदापि नहीं था, ग्रहण करने में आपत्ति है, और कंपनी के आईनों, इस्तहारों आदि में 'हीनदी'या 'हिन्दी' शब्द और नागरी लिपि का उल्लेख होते देख कर वे उन को आधुनिक अर्थ में लेते हैं। इसी 'हिंदी' के साथ हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग होते देख कर वे उसे जनसाधारण की भाषा का द्योतक समझते हैं। ये सब भ्रामक धारणाएँ हैं जिन का आधार तत्कालीन 'हिन्दी' और हिन्दुस्तानी के अर्थ एवं प्रयोग के संबंध में अनभिज्ञता है।

वस्तुस्थिति के संबंध में कुछ निवेदन करने से पहले मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि उपर्युक्त भेद कंपनी और उस की भाषा-नीति तक ही सीमित था। जनसाधारण ईसाई-पादरियों और स्वतंत्र रूप से अध्ययनशील अंगरेज़ों में यह भेद प्रचलित नहीं था, और न इन शब्दों का गिलक्राइस्ट के कहे अर्थ में प्रयोग होता था। साथ ही जहां-कहीं पुराने ग्रंथों या पोथियों में हिंदी या हिंदुस्तानी का उर्दू अर्थ करना सरासर भूल होगी। 'हिंदी', हिंदुस्तानी और उर्दू का एक ही अर्थ में सन् १८२४ तक कंपनी और कालेज ने किया। उस के बाद हिंदी शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग होने लगा और हिंदुस्तानी और उर्दू समानार्थवाची बने रहे, यद्यपि इस विषय में भी कहीं-कहीं ढील दिखाई दे जाती है। हिंदी और हिंदुस्तानी एक अर्थ में प्रयोग हुआ है, साथ ही हिंदी और हिंदुई या हिंदवी का भी एक अर्थ में प्रयोग हुआ है। एक अंगरेज़ लेखक ने हिंदी, उर्दू, रेख्ता, हिंदुस्तानी, ब्रजभाषा, दक्खिनी सब का एक ही अर्थ लिया है! परंतु इन सब बातों से विद्वानों को भूल में नहीं आना चाहिए। आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार

कंपनी ने व्रज-भाषा, पूर्वी, बुंदेलखंडी आदि सभी भाषाओं का (फ़ौजी दृष्टि से यह बहुत ज़रूरी था) और बहुत-से लेखकों ने हिंदी, हिंदुस्तानी आदि शब्दों का अनर्गल प्रयोग किया। लेकिन सैद्धांतिक रूप से इन शब्दों का किस अर्थ में प्रयोग होता था, हमें यह देखकर अपना निर्णय स्वयं करना चाहिए।

'हिंदी', हिंदुस्तानी, उर्दू और रेख़्ता का एक अर्थ में प्रयोग होता था, इस के अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। लेकिन यहां थोड़े-से प्रमाण देकर मैं अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न करूँगा।

सर विलियम जोन्स ने गाज़ीउद्दीन खां की स्त्री गन्ना बेगम[1] की निम्नलिखित ग़ज़ल को 'हिंदी' की सर्वप्रथम ग़ज़ल कहा है—

मुद्दई हम से सखुन साज़ ब साल्सी है,
अब तमन्ना को यहां मुज़्दःए मायूसी है।
आह अब कसरते दाग़-ग़मे ख़ूबां से तमाम,
सफ़ए सीना मेरा जलवए ताऊसी है।
है मेरी तरह जिगर ख़ूनी तेरा मुद्दत से,
ऐ हिना किस की तुझे ख्वाहिशे पाबोसी है।
एवज़े-दर्द मज़े से वह भरे हैं सारे,
जिस लबे-ज़ख्म ने शम्शीर तेरी चूसी है।
तोहमते-इश्क़ अबस करते हैं मुझ पर मिन्नत,
हां यह सच मिलने की ख़ूबा से तु तक ख़ूमी है।[2]

'हिंदुस्तानी' के एक पिछले अंक[3] में प्रकाशित 'गिलक्राइट और हिंदी' शीर्षक लेख में गिलक्राइस्ट और ईसाई मिशनरियों के इस संबंध में बिचार मैं दिखा चुका हूं। उन्हें यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं।

बेली ने अपने दावे में कहा है—

"हिंदुस्तान में कारखाई के लीए हिंदी ज़बान और ज़बानों से जीआदः दरकार है।

"हिंदूस्तानी ज़बान कि जिस का ज़िक्र मेरे दावे में है उस को हिंदी-उर्दू और रेख्तः भी कहते हैं....।"

---

[1] Gunna Beigum.

[2] 'एशियाटिक रिसर्चेज़', सन् १८०६ ई०।

[3] अक्तूबर, १९४० पृ० ३३१

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदुस्तानी भाषा के मुंशी नागरी लिपि और प्रेम-सागरी भाषा से अनभिज्ञ थे। लल्लूलाल, सदल मिश्र, आदि हिंदुस्तानी मुंशी न कहला कर भाखा-पंडित कहे जाते थे।

लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' को खड़ीबोली या हिंदवी का ग्रंथ कहा गया है न कि हिंदुस्तानी का। 'बैताल-पच्चीसी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'इख़्वानुस्सफ़ा', 'बाग़ो बहार', 'अनवारसहेली', आदि हिंदुस्तानी के ग्रंथ थे।

तारिणीचरण मित्र हिंदुस्तानी के पंडित थे क्योंकि वे फ़ारसी के इल्म में कामिल थे।

सन् १८०८ में हेलीबरी कॉलेज, लंदन, में मुंशी मीर अब्दुल अली भेजे गए थे, क्योंकि वे फारसी भाषा के पंडित थे।

कैप्टेन टेलर ने फ़ारसी लिपि में लिखी गई हिंदुस्तानी और रेख़ता को एक मान कर उन को हिंदवी से अलग माना है।

फ्रेडेरिक जॉन शोर ने हिंदुस्तानी को उर्दू कहा है।

संस्कृत को हिंदवी की कुंजी और फ़ारसी को 'हिंदी', हिंदुस्तानी या उर्दू की कुन्जी माना गया है।

१९ वें फ़ुटनोट में दिए गए रडेल के पत्र में हिंदुस्तानी और उर्दू को एक माना है।

लार्ड ऐमहर्स्ट ने भी हिंदुस्तानी और उर्दू को एक अर्थ में लिया है।

सन १८२८ में कॉलेज कौंसिल के सदस्य स्टर्लिंग द्वारा लिखी गई मिनिट्स में 'उर्दू' या 'हिंदुस्तानी' लिखा है।

तासी ने भी हिंदुस्तानी (ऐंदूस्तानी, का उर्दू के अर्थ में प्रयोग किया है और उस का हिंदवी (ऐंदुई) से भेद किया है।[1]

ऐसे अन्य प्रमाणों की सूची तैयार की जाय तो बड़ी लंबी सूची बन जायगी। किंतु दो और प्रमाण दे कर मैं ख़त्म करूँगा।

गिलक्राइस्ट के विचारों का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूं। एक और स्थान पर उन्हों ने लिखा है कि हिंदुस्तानी में अरबी-फ़ारसी के शब्द शुद्ध

---

[1] देखिए, 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' 'ले ओत्यूर ऐंदूस्तानी ऐल्यूर उवरज़' ...., १८६८, पेरिस, द्वितीय संस्करण; ल लांग ऐ ल लित्रेत्यूर ऐंदूस्तानी द १८५० अ १८६९; 'दिसकुर द उवरत्यूर दु कर द ऐंदूस्तानी' १८७४, पेरिस, द्वितीय संस्करण; ल लांग ऐ ल लित्रेत्यूर ऐंदूस्तानी। रिव्यू अन्यूऐल सन् १८७०-१८७६ मे। क्रमशः १८७१, और १८७३-१८७६ में पेरिस से प्रकाशित।

और तत्सम रूप में मिले हुए हैं, और उदाहरण के तौर पर 'अहकाम', 'महकूम', 'मक्कमा' आदि शब्द दिए हैं।[1]

सन् १८२४ में कैप्टेन विलिमय प्राइस हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष थे। इसी साल कॉलेज में हिंदुस्तानी या उर्दू के स्थान पर हिंदी को प्रमुखता दी गई और हिंदी शब्द भी निश्चित रूप से हिंदवी के स्थान पर प्रयुक्त हुआ। कैप्टेन प्राइस ने हिंदुस्तानी को अरबी-फ़ारसीमय और हिंदी में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य माना है।[2]

मेरे विचार में अब तो 'हिंदी', हिंदुस्तानी, उर्दू रेख्ता, हिंदवी आदि शब्दों के अर्थ और प्रयोग के विषय में कोई संदेह न रह जायगा। हिंदी शब्द के प्रयोग की कहानी दिलचस्प है। हिंदवी का प्रयोग उत्तर भारत के मध्यभाग की समस्त बोलियों और उन से संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में होता था। आधुनिक हिन्दी शब्द के प्रयोग से यह बिलकुल मिलता-जुलता है।

कंपनी की हिन्दुस्तानी और उस का मतलब तय हो जाने पर अब लिपि-संबंधी समस्या पर विचार कर लेना चाहिए।

भाषा-संबंधी क्षेत्र में कंपनी ने पहले अँगरेज़ी और फ़ारसी और फिर अंगरेज़ी और हिन्दुस्तानी को अपनाया, यद्यपि सन १८३७ तक हिन्दुस्तानी के साथ-साथ फ़ारसी भाषा का बराबर प्रयोग होता रहा। लिपि के संबंध में हिन्दुस्तानी के लिए गिलक्राइस्ट रोमन लिपि के कट्टर पक्षपाती थे।[3]

---

[1] 'जर्नल ऑव ओरिएंटल सेमिनरी।' १८ मार्च सन् १७९९ का ओ. सी. नं. ३९ इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट।

......The Arabic and Persian being introduced into the Hindoostanee with little or no corruption......

[2] 'प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलिमय', जिल्द ९, पृ० ५०५ ५०६, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट।

[3]......the Hindoostanee, in my hands, has been necessarily furnished with three, namely, the Persian, Nagree, and Roman, the last new modelled into a system of my own, which combines the advantages while it discards the defects of the other two, forming a third, *sue generis* that may be readily applied, with the happiest effects, to every language in the world, as a universal character, with or without a universal tongue. So far as my

फ़ारसी और नागरी लिपि को स्थान देते हुए भी वे दोनों को त्रुटिपूर्ण बताते थे। परंतु रोमन लिपि के बाद वे फ़ारसी लिपि के समर्थक थे, क्योंकि हिंदुस्तानी के पुराने कवियों ने इसी लिपि का प्रयोग किया था।[1]

जिस प्रकार अंगरेज़ी, फ़ारसी और हिंदुस्तानी को लेकर दलबन्दियां हुईं, उसी प्रकार आगे चल कर रोमन, फ़ारसी और नागरी लिपियों के विषय पर सरकारी कर्मचारियों तथा अन्य विद्वानों में बड़ा वाद-विवाद हुआ। रोमन लिपि के समर्थक कहते थे कि इस से नवागत अंगरेज़ों को एक नई लिपि सीखने की झंझट बच जायगी। साथ ही उस को 'यूनिवर्सल कैरेक्टर' विश्वव्यापी लिपि बता कर उस की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। फ़ारसी लिपि के समर्थक फ़ारसी लिपि इस लिये चाहते थे कि हिंदुस्तानी (उर्दू) के लेखक और कवि इसी लिपि का प्रयोग करते आए थे और फ़ारसी के लिए इस का प्रयोग होता ही था। नागरी लिपि के समर्थकों ने इन दोनों का विरोध किया। उन्हों ने कहा कि रोमन और फारसी दोनों लिपियाँ विदेशी हैं और वे हिंदुस्तानी भाषा की ध्वनि को ठीक तरह से व्यक्त करने में असमर्थ हैं। थोड़े-से विदेशियों की आसानी के लिये समस्त देश पर विदेशी लिपि लादना अन्याय था। और फिर रोमन लिपि में नीचे ऊपर लगाए जाने वाले चिन्हों को याद रखना भी तो कठिन था।[2]

---

orthoepigraphical plan (as) regards the Hindoostanee, when first communicated to learners, I can now boast the experience of thirty years for its efficacy, in conveying an adequate proficiency in grammar and pronunciation much sooner than the Oriental characters in general have done; they having on the contrary, deterred many from commencing the language at all, while menaced at the very outset with an accumulation of formidable obstructions, in a strange tongue, and a still more extraordinary character.

—गिलक्राइस्ट का ८ दिसंबर, सन् १८१८ में लंदन से लिखा हुआ एक पत्र।

डब्ल्यू. हंटर, एम डी., के संक्षिप्त हिंदुस्तानी-अंगरेजी-कोष में नागरी लिपि हिंदुस्तनी सीखनेवालों के किसी मतलब की चीज न होने के कारण अस्वीकृत ठहराई गई है।

[1] देखिए, गिलक्राइस्ट के ग्रंथ।

[2] गिलक्राइस्ट की ओर संकेत करते हुए फ्रेडेरिक जॉन शोर ने लिखा है—

It is astonishing how great a share vanity has had in producing these repeated schemes for expressing the Oriental languages

इस प्रकार रोमन और फारसी लिपियों[1] को त्रुटिपूर्ण देख कर कंपनी ने नागरी लिपि को ही अपनाया।

नागरी लिपि को अपनाने के निम्नलिखित मुख्य कारण थे—

(१) यह भारतीय लिपि थी।

(२) आसानी से सीखी जा सकती थी।

(३) कुमायूँ, गढ़वाल, नैपाल राज्यों और मरहठों द्वारा इस का बराबर प्रयोग होता था।

(४) भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय लिपियों और कैथी, महाजनी आदि के समीप थी। इस प्रकार नागरी लिपि समस्त देश में पढ़ी जा सकती थी।

(५) उत्तर-पश्चिम प्रदेश की बहुसंख्यक जनता की लिपि थी।

(६) गिलक्राइस्ट के आने पर हिंदुस्तानी भाषा का नाम 'मूर्ज'[2] भी था (गिलक्राइस्ट के ग्रंथों में इस बात का निर्देश है) यह 'मूर्ज' नागरी लिपि में ही लिखी जाती थी, यद्यपि 'मूर्ज'

---

in the Roman character; each successive speculator, as he toils in his study, surrounded by a halo of dots and dashes, which he mistakes for one of glory, indulges in the pleasing vision of being handed down to posterity as the inventor of an universal "Hindee-Roman-Orthoepigraphical-ultimatum"—one of Gilchrist's long words. He rivalled Jeremy Bentham in this respect of whom it was said:

'And I'am writing a word three pages long,
The Quarterly dogs to rout.

It would not be difficult to invent half-a-dozen–but *cui bono*?,

[1] फारसी लिपि ग्रहण कर लेने से उस के एक महत्वपूर्ण पहलू पर गौर करते हुए शोर महोदय लिखते है—

At first, as is incidental to the introduction of all new plans, there might, occasionally, be some little faults in the proceedings. The Persian idiom would make its way into many of the papers, from the circumstance of the natives employed having, all their lives, been accustomed to write Persian, and never having written their mother tongue......

[2] Moors.

(हिंदुस्तानी) के कवि फ़ारसी लिपि का प्रयोग करते थे ।[1]

सन् १८३७ में जब फ़ारसी का स्थान भारतीय देशी भाषाओं को दिया गया, तो स्पष्टतः विधान में देशी लिपियों को भी स्थान मिला। भाषा तो वही हिंदुस्तानी रही जिसे पहले से ही कंपनी अपनाए हुए थी । परंतु राजनीतिक कारणों से नागरी लिपि का निशान मिटा दिया गया । अब तक फ़ारसी लिपि का प्रयोग केवल फ़ारसी भाषा के लिए होता था । हिंदुस्तानी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता था । सन् १८३७ के बाद हिंदुस्तानी और फ़ारसी लिपि का चलन हो गया । यह वही बात हुई जिसे वली, हातिम, सौदा तथा उन के बाद के कवि करते आ रहे थे ।

नीचे मैं ईस्ट इंडिया कंपनी की 'हिन्दुस्तानी' के कुछ उदाहरण देना भी उचित समझता हूं—

ईसतहार

"एक वादसाही हुकुम हम लोगों के मीर जसटिस अवर हर एक जसटिस साहेबान सहर कलिकत्ता बडा अदालत के नाम पर वरुद होकर अदालत मोफैल हुआ है उस में फरमाआ है के अंगरेज के विलाईत मों जो मोकदमा अव वैसटमीसटर के अदालत में वादसाह का तजवीज़ वीच रुदाद है उस मो फरीआदि जान हडसन ईस कै वरटरनी ईसटड होलम हडसन मतवाफा का हए वै मतवाफा सर टामस ईसपिन्सर उइलसन वेरानट के

[1] जॉन लॉर्ड टेनमथ ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में अरबी के प्रोफेसर रेवरेंड फोर्ड को कलकत्ते से १० सितंबर, सन् १७८३ में एक पत्र लिखते हुए कहते हैं—

I shall now reply to your queries, in the order you have stated them. The language called "Moors" has a written character, differing both from the Sanscrit or Bengalee character; it is called Nagree which means "Writing." The Sanscrit character is named Dib Nagree, or, "The Writing of Angels." This character is little used in Bengal, but is more familliar in the province of Beyhar ......One died a few years ago at Benares, of the name of Souda, who composed a Dewan in Moors, using however, the Persian character for writing it, and the style of Hafiz—he was admired.

—मेमोयर ऑव दि लाइफ एंड कॉरस्पोंडेंस ऑव जॉन लार्ड टेनमथ' लेखक, उन का पुत्र लॉर्ड टेनमथ १८४३, जिल्द १, पृ. १० -१०५

मौत के पीछ सलामत थे अवर उन सभों अपने हीन जिनदगी मेटरनिअन हेनरी वाटसन ईस कैवर मतवाफा के थे तिस वाद हेनरी वाटसन मौसूफ के टरनी थे अवर आसामी आन अंगरेज कंमपनी वाहादुर इस मोकदमा की गवाहूं के इजहार अवर इस वात लेने के सवव पर जसटीस साहेवान ऐक रोज अदालत खोले इस हुकुम मोतावक कलकत्ता के वडा अदालत के जसटीस साहेवान मोकदमा मौसुफ के गवाहुं के ऐजहार अवर ऐस वात आगेनदा मोकरर कीऐ हैं इस लेहाज करके इसतहार दिआ जाता है जो सवव मजकुर पर सहर कलीकत्ता वडा अदालत मो रोज जुममा १८ अठारई जुन आइनदा को अदालता कीआ जाऐगा,

जान इसटेपलटन फरीआदी का टरनी

सहर कलीकत्ता तारीख ३० मारच सन् १८०२ अंगरेजी।"

(सन् १८०२)

"सहर कलकते के दारुसफा के मुखतार कार साहेवो को मंजुर है की दारुसफाअ मजकूर के वसीले से गाअ के सीतले को वे वदल फाअदे की कैफीअत उसकी सावीक ईसतहार नामे में मूफसल लीखी गई है सहर मजकुर और उसके गिरदपेस के रहने वाले के दरमीयान में जारी होंअ ईस वासते जो लोग गाअ के सीतले की जोखम को दुर करे है फाअदा उठावने को चाहे उन लोगों को ईतला होअ जो लडके वगेरे को अब तक सीतला न नीकली होअ वे सभ हर ऐक हफते में मंगल वा जुमे के दीन आठ से दस अटे तक चरमतले के दारुसफाअ में हाजीर हो वें मुफत उनके वाजू पर गाअ के सीतले की पीव से टीका दीआ जाअगा उसके बाद उनहो को सिवाअ दो तीन वेर हाजीर होना दारुसफा में जो वकतो मे की कहा जावे इसी लिये जो जुदे जुदे वकतों में सीतले के निकलने का अहवाल और पीव की तासीर की कैफिअत मालूम की जावे दुसरी कोई तरह की ऐहीतिआत उनको करने न पड़ेगी और जो कोई अपने लड़कों को दारुसफा में भेज के टीका दिलवावें उनो को मालूम होअ की गाअ के सीतले से जो तवीअत में नाखुसी आवती है वोह बहूत हलकी है वलकि कभी ऐसी जीआदती नही करती जो उस वकत उन लड़कों

के मालीक सव अपने रोजमर्रे के कारवार करने से वाज रहके उन लड़कों के खवरगीरी में फसें।" (सन् १८०३)

"जो सव सुवेदारान वो जमादार वो नाऐक वो सीपाही कंपनी अंगरेज वहादुर के सरकार अ र नवाव वजीर मुमालीक के सरकार में आगे नौकर और दुसरे लोग सरकार अंगरेज वहादुर वो सरकार नवाव वजीर के मुलक के साकिन जो हाल में महाराज दौलतराव सेधिया वहादूर वो महाराज रघुजी भोसले वहादूर के सरकार में और कोई मरहटा कोम सरदारों के या महाराज दोलतराव सेधिया वहादूर वो महाराज रघुजी भोसले वहादूर के मुतीफीक कोई सरकार और कोई रईस के पास नौकर हैं उन सभों को खवर दी जाती है कि जीस वकत वे सभ सहाराज सेधिया वहादुर वगैरे मजकुर की छोड कर जीस जीस मकानो में उनहो के हाजीर होने के वासते मुलुक हीनदोसतान और दखन की तैनाती अंगरेजी फौज के साहेवान सरकरद के तजवीज़ में मुकरर हुआ रहे जीस वकत पुहँचे उस वकत वे सभ ख्वाह सरकार अंगरेज बहादूर के नौकर होंगे ख्वाह जीस कदर तलव तनख्वाह उनहो को महाराज मजकूर के सरकार से मीलती है उसी कदर उनही का गूजरान के वासते अंगरेज वहादूर के सरकार से मुकरर होगी और उसके सीवाए जीस कदर तफजुलात वो मेहरवानी सरकार अंगरेज बहादूर के दजुर माफिक होने सकेगी वह उन सभो के हक मे की जायगी चाहीये कि ऐ सव उपर लीखे वाद अमल आवने के आगे जीस मुकरर कीये हुये मकानों में उहा के तैनाती अंगरेज़ी फौज के साहेव सरकार दे पास अपने अपने हकमें पुहँचने के वासते ऐतनी वात सावीत करे जो ये सभ ईसी ईसतहार नामे के माफीक ऊपर के लीखे हुये फलाने रईस फलाने सरकार की नौकरी छोड़ दीये हैं। अह ईसतहारनामा अजीलास कौंसल में नवाव मुंसतताव मोअला अलकाव असरफुल असराफ मार-कोईस वलजली गवरनर जनरल वहादुर दाम अकवालहं के हुकुम से सादीर हुया ता. २९ माह अगस्त सन् १८०३ ईसवी मूतावीक १० जमादुल औयल सन् १२१० हीजरी।"

(सन् १८०३)

"नवाव गवरनर जनरल वहादुर ने अंगरेजी सन १८०४ ता. ५ जानवरी मुतावीक १२१८ हीजरी साल के २१ रमजान को कौसल के ईजलास में जो हुकुम कीआ उसका ईह तरजुमा

"सरकार कमपनी अंगरेज वहादुर के नौकर सीपाहीयों के चवथे रजमंट का सुवेदार मीर करम अली जो अलीगढ़ कीले के हले में मारा गआ है उसके भले चाल चलन पर और कदीम खीदमतो के वदले और अंगरेजी फौज़ के सीपहसालार जनरल जारा रदलीक साहेव वहादुर के सीपारस करने से हजुर में ऐस मनजुर हुआ की सीका वीस रुपै का दर माहा सुवेदार मजकूर के जोरु कनो व मुकरर होअं इसी लीए हुकुम हुआ की दरमाहा मजकुर माह व माह सुवेदार मजकुर के जोरु को उसके जींदगी तक दीआ जावे।"

(सन १८०४)

"जनाव मुसतताव मो अला अलकाव असरफुल अस-राफ मारकोईस वलजली गवरनर जनरल वहादुर दामऐकवा-लहु का ईजलासकौंसल में जो हुकुम सादीर हुआ उसका तरजुमा

"तहनामा सुलह औ दोसती का सरकार अंगरेज वहा-दुर के तरफ से हनरवील मैजर जनरल वलजली वहादुर के औ रघु जी भौसले सेना साहेव सुवा वहादुर के तरफ़ से जस-वंतराव राम चंदर के मारफ़त अंगरेजी सन् १८०३ माहे दीसमवर के १७ मुतावीक हीजरी सन् १२१९ सहर रमजान के २ तारीख में सरकार दौलत-मदार कुमपनी अंगरेज वहादुर और सरकार मजकुर के मुततहीद लोग और महाराज मौसुफ के दरमीआन करार पाआ और वह तहनामा ईजलास कौंसल में नवाव ममदुह के हजुर और महाराजा मौसुफ के सरकार में मनजुर होकर नवाव ममदुह और महाराजा मौसुफ के मोहर व दसखत से मुजैअन हुआ ईस लीऐ ऐह खुसी की खबर सर-कार अंगरेज वहादुर के सब रीआआ और मुतवसीलों के इतला के वासते ईस हुकुमनामे के रु से ईसतीहार दी गई और नवाव ममदुह के हजुर पुरनुर से ईह हुकुम सादीर हुआ की ईस हुकुमनामे के तारीख से महाराज मौसुफ के साथ लड़ाई भीड़ाई मौकुफ होअ ईस सुरत में अंगलीसतान के

वादसाह जमजाह औ कुमपनी अंगरेज वहादुर के सरकारी कीस-सवर हींद के मुतअलक सब अहलकार और कारपरदाज और फौजों सरदारों को चीहीऐ की ताकीद जान कर ईस लीखने के मुतावीक अमल से लावे अंगरेजी सन् १८०४ माह जनवरी की १५ मुतावीक हीजरी सन् १२१९ सहरमबाल की १ तारीख मे लीख गआ।" (सन् १८०४)

"जनाव मुसतताव मोअला अलकाव असरफुल अमराक मारकोईस वलजली गवरनर जनरल वहादुर दामएकवालहु का जो हुकुम ईजलास कौसल मे सादीर हुआ उसका तरजुमा

"सुलह औ दोसती का जो तहनामा सरकार कुंपनी अंगरेज वहादुर और सरकार मौसुफ के मुतहीद लोग औ सरकार महाराजे रघु जी भोसले सेना साहेव सुवा वहादुर के दरमीआन मुकाम देवगांव मे अंगरेजी सन् १८०३ माहे दिसंवर के १७ मुतावीक हीजरी १२१८ सहर रमजान के ता: ॥ २ मे करार पाआ है उसी तहनामे के रुय से कटक का मुलुक मै वंदर औ तालुकात वाले सर जो सुवरन रेखा नदी के दोनो कीनारे है महराज सेना साहेव के सरकार से हमेसा के वासते अंगरेज वहादुर के सरकार मे सुपरद हुआ ईस लीए यह खूस खवरी कटक के मुलुक औ वंदर औ तालुकात वालेसर मै परगनैं पटासपुर औ भोगराई औ कवरदह चोर औ साहवंदर औ कीआरचंद नदी मजकुर के पूरव औ उतर के तरफ मे जो सावीक मरहटे के दखल मे था यह सब जगहों के जीमीदार और तालुकदार और रईऐत ओर सव वासींदों को ईतला के वासते इसी हुकुम-नामे के रुय से ईसतहार दीआ गआ ओर मुलुक कटक औ वंदर मै तालुकात वालेसर के सव वासिंदों को ईतला दी जाती है कि उनके जान ओर माल की हीफ़ाजत और अमनीऐत सब तरह से की जायगी जो सव फायदे मुलुक हींदोसतान के मुतअलक साहेवान अंगरेज वहादुर के हुकुमत के रुय से सरकार कुमपनी वहादुर के कदीम रीआसत मुलुक वंगाले के रईऐतों को हासील है उसी तौर से फायदे जलदी उनको भी हासील होंगे ईस लीए हजुर का नातीक हुकुम है की ईसी हुकुमनामे के तारीख से कटक के मुलूक

और वंदर और तालुकात मजकूर के वार्सींदे लोग महाराज मजकुर के सरकार की मुतावीअत छोड के सरकार कुंपनी अंगरेज वहादुर की फरमावरदारी करै और ईजलास कौंसल में नवाव साहेव मौसुफ के हुकुम से जो सव आईन औ कवानीन औ कवायद मुलुक कटक के मुखतीयारकार साहेवान से या कोई साहेवान अदालत से या सरकार कुंपनी अंगरेज वहादूर के अहलकार औ कारपरदाजों से जीनहों को उस मूलुक के काम जारी करने वासते ईखतीयार दीया है उस मुलुक को हसन इंतजाम के वासते मुकरर हुए होंय या आइंदा मुकरर होंय उन सभों को अमल में लावें ता. ९ माहे जानवरी सन १८०४ ईसवी मुतावीक २५ सहर रमजान सन् १२१८ हीजरी।"

(सन् १८०४)

इश्तिहार

"फ़ारसी औ हिनदी औ वंगाली तरजुमे का दफ़तर मिसतर ऐडवारड हाल साहिव सव लोगों को इतला देते हैं कि इनने एक दफ़तर तरजुमे का मुकरर किया है वासते तरजुमे के जवान अंगरेजी में सव कागजात फ़ारसी औ हिनदी औ वंगाली व किसम खत और चिठी औ खरजी औ रुवकारी अदालत दीवानी औ फ़ौजदारी औ तमसुकात औ इकरारनामा औ हीसाव औ हेवा औ तमलीक औ सिवाऐ इसके दुसरे कागज पततर कारवार मामले की मिहनत आसान पर औ सव तरजुमा जहां तक की हो सकै माफीक असल क होगा औ सव फ़रमाइश तमाम लोगों की दुरुसती से औ जलदी वजा लावेंगे औ दफतर अपना वीच एक कोठी वालाखाना के लमवर १२ मोकाम दर गली गिरानटिश मे मोकरर किया है वह दफतर वासते हासील करने हुकुम औ फरमाइश तमाम लोगों की सिवाऐ रोज ऐतवार के हमेश आठ घंटा सुवह से तमाम दिन ले आठ रात तलक खुला रहैगा।" (सन् १८०६)

"इसतेहारनामा साहेवान आलिसान वोरड कमीसनर मुंनजम मुमालक मफवजे व मफतुह व वनारस वाके तारिख १४ माह दीसमवर सन १८१२ इसवि सरकार कु दरआफत हुआ सैद फजल अलि खा व झूमकलाल मुहररर वा कसोराम

व हरीराम कानगोइ गनेसलाल गूमासते कानगोइ मजकुर ने जीले गोरखपूर इरादा कभी करन माल वाजव सरकार के साथ राजे अर मदन साहि के साजस करके मूकदम गंगा तोर के तअल के मानकजुगनी व वीसुनपुर तअल के मजकुर इजहार भूठ दाखील दफतर कलकटरी जीले की चाहे की उससे नफा राजा का औ नकसान माल सरकार का जाहर हूआ यह जुरम सावत पोहचा इस वासते मुआफीक हुकम नवाव मुअलला अलकाव गवरनर जनरल वहादर मसदुरे २६ नवंवर सन १८१२ इसवि साथ इजलास कौसल मे जारी हुआ वासते खवर खास और आम के इसतहार कीआ जाता है की नाम वुरदोगान विच मुलक हुकूमत कलकतते के सरकार कंपनी अंगरेज वहादर के सें कछू सरसता नहि होगा।" (सन १८१३)

"कलकत्ते के नातवान करजदारों की खलासी की अदालत।

"नातवान जान पामर और उलियम प्रिनसिप और जार्ज अलिकजेंडर प्रिनसिप और चारलिस बारबर पामर सौदागर और ऐजेंट अर्थात् टरनि कि पामर कम्पानि के नाम से शराकत में कारोवार करते थे।

"इस्तिहार दिया जाता है कि ऊपर के लिखे हूऐ नादार असामियों के ऐसेनी के जमाखरच का हिसाव १८३० माल की ५ जानवरि मे ३१ मार्च तक इस अदालत के सरदार केलार्क के दफतरखाने में दाखिला हुआ है तिस हिसाव की तहकीकात हर रोज दस घंटे से ले चार घंटे तलक महाजन लोग करेंगे और उनके मतालक लोग करेंगे इति।

इकजामिनर का दफतरखान

३० जुलाई १८३०" (सन १८३०)

"इश्तिहार दिया जाता है कि मफ़स्सल के बाज़ार की सरवराह के वास्ते दफ़अ दफ़अ निलाम में सरकारी नमक फ़रोख़्त का जो दस्तूर था सो इस इश्तिहार का तारीख़ मे और इसके बअद मौक़ूफ़ हुवा।

"२ दफ़अ॥ आइंदः १जुलाई तारीख से और उसके बअद सरकारी नमक १५० मन के कम न हो ऐसे मिक़दार खुश सौदा और मुक़र्ररी क़ीमत में फ़रोख होगा और १५०

मन् से ज़ियादः लेना अगर अगर किसू को मंजूर हो तब उस मिक़दार के ऊपर ५० मन् या १०० मन् पूरा लेने होगा यऋने ३०० मन् ३५० मन् ४०० मन् ५०० मन् वग़ैरह्।

"३ दफ़ऋ ॥ बिल् फ़िऋाल् जिस तौर पर जिस दलील पर नमक दिया जाता है उसी तौर पर इस इश्तिहार को शामिल फ़र्द का लिखा हुआ हर एक् घाट व गोला से नमक दिया जागा।

"४ दफ़ऋ ॥ जिस घाट वा जिस गोला से जो जो रकम नमक् दिया जागा उसका भाव इस इश्तिहार के शामिल फ़र्द में शरहेवार लिखा गया। (सन् १८३६)

× × ×

"अंगरेजी सन १८०४ साल १ आईन

१७ तफसील जो १६ सरत है उपर का लिखा सरतो के सिवाऐ जो और हरी ऐक सरत के ईन वलीद वो जमीदार ईऋा और मालीक जमीन के बीच अमल में आवै दोनों के उपर चलैगा वो जो हूजत वो अखज का मोकदीमा के जमीदार ईऋा और मालिक जमीन वो ईनवलीद ईऋा उन सभों के वारीस ईऋा का ऐम मोकाम लोग के वीच ईनवलीद के जागीर के जमीन के सरत वो कैफीअत के वावत मे होऐ उसि जीला के अदालत दीवानी मे ईनफसाल पावैगा। (सन् १८०४)

याद रहे यह इश्तहारों और नोटिसों की भाषा है। 'परजा', 'आगाभी' 'इति' आदि हिंदी-शब्द आने पर भी उपर्युक्त अवतरणों की भाषा सरल उर्दू है। वाक्य-रचना विदेशी है, अनेक अप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का उन में जमघट है, और शैली मुंशियाना है। सन् १८३७ के बाद हिंदुस्तानी भाषा ने जो रूप ग्रहण किया उस का अस्तित्व पहले ही से था। फ़ारसीदां अमले हिंदुस्तानी का प्रयोग करते समय फ़ारसी-शैली, शब्दावली और मुहावरे लाए बिना न रहते थे। फ़ारसी के हट जाने से, उस पर प्रतिबंध लग जाने से उस की विदेशी शानशौकत से हिंदुस्तानी भाषा को स्वतंत्र रूप से सजाया जाने लगा। यही वजह है कि सन् १८३७ ई० के बाद की हिंदुस्तानी या उर्दू का रूप सन् १८३७ ई० से पहले के उसके रूप की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है। मुसलमानी दरबारों में हिंदी प्रचलित थी। परंतु पीछे से उस का स्थान जिस भाषा ने ग्रहण किया उस का कारण राजनीतिक और अंगरेजी सरकार की लापरवाही और भाषा-विषयक

अनभिज्ञता रहा है। भाषा का यही विदेशी रूप अब भी अखंड रूप में जारी है। ईस्ट इंडिया कंपनी के राजत्व-काल के इश्तहारों और नोटिसों की भाषा ऊपर दी जा चुकी है। अब उस का असली रूप देखिए।

गिलक्राइस्ट और बेली की भाषा के नमूने मैं पहले दे चुका हूं। उन्हें अब फिर यहां देने की कोई जरूरत नहीं। नीचे हिंदुस्तानी में लिखी गई वैद्यक पर एक पुस्तक की भूमिका से अवतरण दिया जाता है। मुखपृष्ठ के फटे होने के कारण उस के लेखक, उस की रचना-तिथि आदि का पता न लग सका; संभव है वह ग्लेडविन की लिखी हुई हो—

"इस किताब के पढ़ने वालों पर पोशीदः न रहे कि मुवल्लिफ़ ने इसकी तालीफ़ में दो मतलब रखे हैं ऐक यह है कि इस मुल्क के वाशिंदों को हक़ीक़त उन नवातात की और क़ैफीयत उन चीजों की जो विलायति मग़रिब के तबीब अपनी दवाओं में मिलाते हैं दरयाफ़्त होवे * दूसरा यह कि इस मुल्क की कई दवाएं जो अकसर मरज़ों में निहायत मुफ़ीद हैं जियादःतर मशहूर हो जावें * और छोटे बड़े खास ओ आम पर ज़ाहिर हो कि किताबों की तसनीफ़ का मनशा यह है कि जो कुछ ऐक जगह नया ईजाद होता है हर ऐक मुल्क के रहने वालों पर जल्द खुल जाता है अलल खुसूस चरचा उलूम का और तज़किरः फ़ुनून का उन मुलकों में वहताइत से फैल जाता है जहाँ सरिश्तः छापे का जारी है...." [दीबाचः, पृ० १–२]

नक़लियात [सन १८०२]—

"एक वज़ीर का बेटा नादान व कुंदज़हन था वज़ीर ने एक दाना के पास उसे भेजा और कहा कि इस लड़के को तरबियत कर शायद कि अक्लमंद हो जावे चुनांचि दाना ने उसकी तालीम में बहुत सी कोशिश की पर कुछ फ़ायदा न हुआ पस लाचार होकर लड़के को उसके बाप के पास फेर भेजा और कहा कि तेरा बेटा आक़िल नहीं हुआ और मुझे दीवाना किया।" (फ़ारसी लिपि से)

'इंतखाबे-इख्वानुस्सफा' [फोर्ट विलियम कालेज के हिंदुस्तानी मुंशी मौलवी इकराम अली द्वारा सन १८११ के लगभग अरबी से अनूदित)—

"फस्ल पहली क़ासिद के अहवाल में

पहले क़ासिद जिस घड़ी दरिन्दों के पादशाह अबुलहा-

रस याने शेर के पास जाकर कहा कि आदमियों और हैवानों में जिनों के पादशाह के सामने मनाज़र: हो रहा है हैवानों ने क़ासिदों को सब हैवानात की तरफ़ रवान: किया है कि आकर उनकी मदद करें मुझको भी आपकी खिदमत में भेजा है एक सरदार अपनी फौज से मेरे साथ कर दीजिये कि वहाँ चलकर अपने अबानाए जिन्स का शरीक होवे जिस वक्त उसकी नौबत आवे इन्सानों से मनाज़र: करे पादशाह ने क़ासिद से पूछा कि इन्सान हैवानों से क्या दावा करते हैं उसने कहा कि वे कहते हैं कि सब हैवान हमारे गुलाम और हम उनके मालिक हैं शेर ने पूछा कि इन्सान किस चीज से फख्र करते हैं अगर रोज क़ुव्वत-शुजाअत दिलेरी हमला करना कूदना फांदना चुंगल मारना लड़ना भिड़ना इनमें किसी चीज़ से फख्र करते हों मैं अभी अपनी फौज को रवान: करूँ कि वहाँ जाकर एक हमले में मुतफ़र्रिक़ परागन्द: कर देवे क़ासिद ने कहा बाज़े उन खसलतों से भी फख्र करते साथ इसके बहुतसे अमल और सनातें और हील: और मक्र ढाल तलवार बर्छी नेज: पेशक़ब्ज़ छुरी तीर कमान और बहुत से हथियार बनाना जानते हैं दरिंदों के चुंगल और दांतों के वास्ते बदन को ज़िरह बख़्तर चिलत: नन्द खुद से छिपाते हैं कि उनके दाँत और चुंगल हर्गिज़ बदन में असर न करें दरिन्दों वहशियों के पकड़ने के लिये बहुत से मक्र हीले करते हैं जाल और फन्दें बनाते हैं खन्दकें और कुए और ग़ार खोद कर मुंह उनके मिट्टी और घास से अलग बन्द करते हैं जिस वक्त हैवान नादानिस्त: उनमे जाकर गिरते हैं फिर वहाँ से निकलना मोहाल होता लेकिन जिन्हों के पादशाह के सामने इन खसलतों का कुछ जिक्र नहीं है वहाँ फ़साहत बयान और जोदित ज़बान ग़लबा अक्ल व तमीज़ान सब चीज़ों के वास्ते दलीलें और हुज्जतें बयान होती हैं।"

[फ़ारसी लिपि से]

गिलक्राइस्ट और हिंदी

लल्लूलाल और उनके 'प्रेमसागर' के नाते डा० जॉन बौर्थविक गिलक्राइस्ट का नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में गद्य के जन्मदाता और उन्नायक के रूप में लिया जाता है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'दि माडर्न लिट्रेरी हिस्ट्री अव् हिंदुस्तान' के प्राक्कथन में लिखा है कि अंगरेजों ने हिंदी भाषा को जन्म दिया, और सब से पहले गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूलाल ने सन् १८०३ में उस का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया। 'ए लिट्रेरी हिस्ट्री अव् इंडिया' के लेखक आर० डब्ल्यू० फ्रेज़र ने भी ग्रियर्सन महोदय के कथन का समर्थन किया है। सन् १९२४ के 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखते हुए श्री नलिनीमोहन सान्यालने कहा है कि हिंदी भाषा अर्थात् खड़ीबोली लल्लूलाल और सदल मिश्र की देन मानी जा सकती है। इसी भाँति, ग्रीव्ज तथा हिंदी के अन्य भारतीय इतिहास-लेखकों में भी ऐसी ही धारणा फैली हुई है। न मालूम इन विद्वानों के कथनों का क्या आधार है। संभवत: 'प्रेमसागर' की भूमिका में गिलक्राइस्ट का नाम जोड़ देने से ऐसा हुआ हो। मैं गिलक्राइस्ट द्वारा चुनी हुई भाषा के कुछ नमूने, उन के भाषा-संबंधी विचार, और 'प्रेमसागर' का इस संबंध में महत्व दिखला कर उपर्युक्त कथनों की भ्रमात्मकता सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा।

जॉन बौर्थविक गिलक्राइस्ट[1] का जन्म सन् १७५९ में एडिनबरा में हुआ था। स्थानीय जॉर्ज हैरियट्स अस्पताल में डॉक्टरी का अध्ययन कर चुकने के बाद ३ अप्रैल सन् १७८३ में वे ईस्ट इंडिया कंपनी में सहायक सर्जन नियुक्त

[1] स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण सन् १८०४ में वे घर लौट गए। ३० अक्तूबर सन् १८०४ में एडिनबरा यूनिवर्सिटी ने उन को एल्. एल्. डी. की उपाधि दी। ६ जनवरी सन् १८०९ में वे ३०० पाउंड की पेंशन पर कंपनी की नौकरी से

हुए, और उसी वर्ष कलकत्ता पहुँच गए। सन १७९४ में वे सर्जन बना दिए गए।

जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष में आए उस समय कंपनी फारसी भाषा का प्रयोग करती थी। कंपनी के अधिकारी अच्छी तरह या काम चलाऊ फ़ारसी जानने वाले कर्मचारियों पर विशेष कृपा रखते थे। उच्च पदाधिकारियों की समझ में फारसी न आने के कारण राज्यकार्य में उन को बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। उस को दूर करने के लिए दुभाषियों से काम लिया जाता था। ये दुभाषिये या तो कंपनी के कर्मचारियों में से ही होते थे, या विज्ञापन द्वारा किसी फ़ारसी जानने वाले की नियुक्ति होती थी। लेकिन गिलक्राइस्ट ने देखा कि कंपनी जिस भाषा का व्यवहार करती थी वह देश की भाषा नहीं थी। दिल्ली-दरबार की अवनति के साथ-साथ फारसी भाषा का प्रचार कम हो चला था और उसके स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन हो गया था। उन्हों ने इस बात को महसूस किया कि राज्य कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज की उच्च श्रेणी के जिन हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग की आवश्यकता थी उन में हिन्दुस्तानी का ही प्रचार अधिक रह गया था। इस लिए कम्पनी के कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान होना परमावश्यक समझा गया। उन्होंने स्वयं उस का अध्ययन करना शुरू कर दिया। कई वर्ष तक वे हिन्दुस्तानी प्रदेश में घूमते रहे। इस बीच में उन्हों ने संस्कृत, फ़ारसी तथा कुछ और पूर्वी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन की देखा-देखी कम्पनी के और कर्मचारियों ने भी हिन्दुस्तानी का अध्ययन शुरू कर दिया। इन नौसिखियों और नए भरती किये गये 'राइटरों' (लेखकों) की सुविधा के लिए उन्हों ने कई ग्रन्थों की रचना की। सन् १७८७-९० ई० में 'ए डिक्शनरी, इंगलिश एंड हिन्दुस्तानी,' २ भाग सन् १७९६ ई० में 'ए ग्रामर अव् दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज,' और सन् १७९८ ई० में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' नामक तीन प्रमुख ग्रन्थों का उन्हों ने निर्माण किया। मार्क्विस वेलेजली को इस ओर कुछ दिलचस्पी थी। उन्हों ने गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी भाषा

अलग हो गए। सन् १८१६ में वे एडिन्बरा से लंदन चले गए। वहां दो वर्ष बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कर्मचारियों को हिंदुस्तानी पढ़ाने के लिए उन्हें प्रोफ़ेसर नियुक्त किया। सन् १८२६ में उन्हों ने अपना काम सेन्फोर्ड आरनौट और डंकन फ़ौर्ब्स को सौंप दिया। ९ जनवरी सन् १८४१ मे पेरिस में उनकी मृत्यु हो गई। वे बड़े भारी रिपब्लिकन और स्वभाव के उग्र थे।

के अध्ययन और प्रचार-कार्य की अत्यंत प्रशंसा की और यथाशक्ति वे उन को आर्थिक सहायता भी देते रहे। सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर उन्हों ने गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया।

यहीं से गिलक्राइस्ट का हिंदी साहित्य में पदार्पण होता है। परंतु यदि हम इन के भाषा-संबंधी विचारों का अध्ययन करें तो उन की वास्तविक स्थिति का पता चलते देर न लगेगी।

गिलक्राइस्ट का हिंदुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिस के व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप आदि तो हलहैड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक हिंदुस्तानी ['प्योर आर ओरिजिनल हिंदुस्तानी'], और स्वयं उन के द्वारा कही जाने वाली 'हिंदुवी' या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिस में अरबी-फ़ारसी के संज्ञा-शब्दों की भरमार रहती थी। इस भाषा को केवल वे ही हिंदू और मुसलमान बोलते थे जो पढ़े लिखे थे, और जिन का संबंध राज-दरबारों से था, या जो सरकारी नौकर थे। लिखने में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। हिंदुस्तानी को उन्हों ने 'हिंदी', 'उर्दू', 'उर्दूवी', और 'रेख़्ता' भी कहा है। इन में केवल 'हिंदी' शब्द ही ऐसा है जो साहित्यिकों के दिमाग़ में उलझन पैदा कर देता है। हिंदी का 'हिंद की' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है, जो बिल्कुल ठीक है। हिंदुस्तानी उसी प्रकार हिंद की भाषा थी जिस प्रकार आधुनिक 'इँगलिस्तानी', यद्यपि उस का साहित्य में प्रयोग नहीं किया जाता। दूसरे, हिंदुस्तानी में खड़ीबोली का प्रयोग होने से भी वह 'हिंदी' कही जा सकती थी क्योंकि खड़ीबोली हिन्दुस्तान की ही भाषा तो है। लेकिन 'हिन्दी' के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द उन्हों ने इस लिए पसंद किया कि 'हिन्दुवी' 'हिंदूवी' या 'हिंदुई' और 'हिंदी' शब्दों से, जो बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, कोई गड़बड़ी पैदा न हो सके। 'हिंदवी' को वे केवल हिंदुओं की भाषा मानते थे। मुसलमानी आक्रमण से पहले यही भाषा देश में प्रचलित थी और इसी के आधार पर हिंदुस्तानी का भवन खड़ा हुआ था। यहां पर यह बतला देना जरूरी है कि 'हिंदी'–'हिंदुवी' शब्दों का यह भेद जन-साधारण में प्रचलित नहीं था।[1] इस प्रकार 'हिंदुवी और

---

[1] जनसाधारण की भाँति श्रीरामपुर मिशनरियों ने भी 'हिंदुई' और 'हिंदी' में कोई भेद नहीं माना। सन् १८१२ ई० में प्रकाशित अपने चौथे संस्मरण में उन्हों ने लिखा है—

'हिंदुस्तानी' का भेद मान कर गिलक्राइस्ट ने तीन प्रचलित शैलियां निर्धारित कीं—(१) दरबारी या फ़ारसी शैली, (२) हिंदुस्तानी शैली और (३) हिंदुवी शैली। फ़ारसी शैली दुरूह होने और सर्वसाधारण की समझ में न आ सकने के कारण उन्हें अग्राह्य थी। 'हिंदुवी शैली को वे गँवारू कह कर पुकारते थे। सिर्फ़ 'हिंदुस्तानी' शैली उन को पसंद आई जो उन के मतानुसार हिन्दुस्तान की महान् लोकप्रिय बोली ('दि ग्रांड पापुलर स्पीच अव् हिन्दुस्तान') थी। इस शैली में दक्षता प्राप्त करने के लिए फ़ारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य था। वे स्वयं तो रोमन लिपि के कट्टर पक्षपाती थे। लेकिन फ़ारसी लिपि से उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि 'हिन्दुस्तानी' (या उर्दू) के पुराने कवियों, जैसे, मीर, दर्द, सौदा आदि, ने इसी लिपि का प्रयोग किया था। अच्छी हिन्दुस्तानी लिखने के लिए फ़ारसी शब्दों का मिश्रण आवश्यक समझा गया। और अच्छी हिन्दुस्तानी के उदाहरण या तो सौदा की रचनाओं में या स्वयं गिलक्राइस्ट की बनाई किताबों में दिए गए हिन्दुस्तानी भाषा के नमूनों में या आया, खानसामा और मुंशी की भाषा में मिल सकते थे। इस लिए कोई हिन्दू भी अच्छा 'हिन्दुस्तानी मुंशी' बन सकता है, यह बात वे मानने के लिए तैयार नहीं थे। संक्षेप में उन्हों ने हिन्दुस्तानी का यह सूत्र (फ़ॉरम्यूला) दिया है—

हिन्दुवी+अरबी+फ़ारसी=हिन्दुस्तानी[1]

यही 'फ़ारम्यूला' यदि इस रूप में रख दिया जाय तो उस में कोई अन्तर न पड़ेगा हिन्दुवी+अरबी+फारसी=उर्दू

याद रखना चाहिए कि गार्सां द तासी ने 'ऐंदुई' और 'ऐंदुस्तानी' का गिलक्राइस्ट के 'हिन्दुवी' और हिन्दुस्तानी' शब्दों के अर्थ में ही प्रयोग किया है।

"We apply the Hindooee, or Hindee, to that dialect of the Hindoosthanee which is derived principally from the Sungskrit, and which, before the invasion of the Musulmans, was spoken throughout Hindoosthan. It is still the language most extensively understood, particularly among the common people."

साथ ही उन्हों ने 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का एक अर्थ में भी प्रयोग किया है। हिंदी से उन का अर्थ पश्चिमी हिंदी से था जिस को अँगरेज़ी में उन्हों ने इस प्रकार लिखा है—Hindee (देखिए फुटनोट २ पृ० ३३६)

उपर्युक्त अवतरण का अंतिम वाक्य ध्यान देने योग्य है।

[1] 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट', भूमिका, पृ. 1

अब उन के बनाए हुए ग्रन्थों का निरीक्षण करना चाहिए ताकि ऊपर कही गई बातें और साफ हो जायँ। गिलक्राइस्ट की सहायता से प्रधान सेनापति के फ़ारसी भाषा के दुभाषिया विलियम स्कॉट ने सन् १७९० ई० में 'आर्टिकिल्स अव् वार' का हिन्दुस्तानी में अनुवाद किया था। 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' के सन १७९८ और १८०२ ई० के दोनों संस्करणों में ये शामिल हैं। उन में से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

("पहली आईन आठवीं बाब की)

"जिस वक्त किसी ओहदेदार, या सिपाही पर, बड़े गुनाह की नालिश हो, या किसू रय्यत के बदन या माल के कुछ बिदत, या नुक़सान करने की फ़रिआद होवे, जिस की सज़ा रेजीमेंट, रिसाले, कंपनी या तईनाती में वुह आसामी, या वे आसामी एलाक़ा रखते हों, जिन पर फ़रिआद हुई है, तौ ऊस ही के सर्दार, और ओहदेदारों को चाहिए, इस आईन के मुआफ़िक़ मुनासिब दरख़्वास्त पर, ऊस फ़रिआदी या फ़रिआदियों से, या ऊन के तरफ़ से, कि अपनी मक़दूर भर ऊस आसामी या आसामियों को, जिन पर नालिश हुई है, मुल्की हाकिम को सौंपे; और इस के चाहिए कि अदालत के ओहदे दार को मदद ओ सहारा देवे, ऊस आसामी या आसामियों के पकड़ने, और सलामत पहुँचने में, वास्ते तहक़ीक़ात इस नालिशी मुक़द्दमे के, अगर कोई सर्दार या ओहदेदार देख सून के न माने, या ग़फ़लत करे उसी दरख़्वास्त की रू से मुल्की हाकिम को ऊस आसामी या आसामियों के सौंपने में या इस आसामी, या आसामियों के पकड़ने में अदालत के लोगों की कूमक न करे, तौ वुह सर्दार या वे ओहदेदार तक़सीरमंद ओहदे और नौकरी से बरतरफ़ होंगे।" (१७९० ई०)

(रोमन लिपि में)

मेजर ब्राउटन के 'सेलेक्शंस फ्राम दि पाप्यूलर पोएट्री अव् दि हिंदुज़' की भूमिका से उद्धृत करते हुए उर्दू (या हिंदुस्तानी) भाषा और हिंदी सिपाही के विषय में टाम्पसन साहब की 'हिंदी एंड इंगलिश डिक्शनरी' का एक समीक्षक लिखता है—

"लेकिन[1] हमारे हिंदी सिपाहियों में से बहुत कम अपने गाँवों को छोड़ते समय इस भाषा का ज्ञान रखते हैं लंबी नौकरी के बीच निःसंदेह वह इस से कुछ अधिक परिचित हो जाते हैं, पर आजन्म वह अपनी मौलिक बोली का इतना व्यवहार बनाए रखते हैं कि एक पुराने सिपाही और उन के अनुभवी अफ़सरों के बीच एक दुभाषिये की बहुधा आवश्यकता पड़ती है।"

इसी आधार पर कुछ लोगों ने, मुख्यतया श्रीरामपुर के पादरियों ने, इस भाषा का विरोध भी किया था।[2]

---

[1]With this language, however, few of our Hindi Sipahis are conversant when they quit their native villages. In the course of long service they doubtless acquire more of it, but throughout their lives, they generally retain so much of their original dialect, that it not unfrequently requires a third person to interpret between a veteran soldier and his experienced officer—

'कलकत्ता रिव्यू', १८४८ ई.

[2] ५ मार्च सन १८१६ ई. के छठे संस्मरण में श्रीरामपुर के पादरियों ने लिखा है—

"......The fact is, indeed, that the latest and most exact researches have shown, that the Hindee has no country which it can exclusively claim as its own. Being the language of the Musalman courts and camps, it is spoken in those cities and towns which have been formerly or are now, the seat of Musalman princes; and in general by those Musalmans who attend on the persons of European gentlemen in almost every part of India. Hence it is the language of which most Europeans get an idea before any other, and which indeed in many instances terminates their philological researches. The circumstances have led to the supposition, that it is the language of the greater part of Hindusthan; while the fact is, that it is not always understood among the common people at the distance of only twenty miles from the great towns in which it is spoken. They speak their own vernacular language, in Bengal the Bengalee, and in other countries that which is appropriately the language of the country which may account for a circumstance well-known to those gentlemen who fill the judical department; namely, that the publishing of the Honourable Company's Regulations in Hindoos-

सन् १७९६ ई० में उन्हों ने 'ए ग्रामर अव् दि हिंदुस्तानी लैंग्वेज' की रचना की। इस व्याकरण के सिद्धांत तो 'हिंदुवी' पर आधारित हैं परंतु और सब बातें हिंदुस्तानी (या उर्दू) की हैं। उदाहरण के लिए छंद उन्होंने 'फ़ाइलुन', 'फ़ाइलातुन', 'मफ़ाइलुन', 'फ़ाइलात' आदि चुने हैं। फ़ारसी या अरबी लिपि के उन्हों ने 'नस्तालीक़', 'नस्ख़', 'शिकस्तआमेज़', 'शिकस्ता', 'शफ़ीअ' और 'शुल्स' भेदों का वर्णन किया है। सब से आश्चर्यजनक बात तो गिलक्राइस्ट ने यह कही है कि 'हिंदुवी' लिपि को मुसलमान तो कोई नहीं समझ पाता और हिंदू भी बहुत थोड़ी संख्या में उसे समझ पाते हैं। न मालूम उन के इस कथन का क्या आधार है। उदाहरण के लिए अवतरण भी उन्हों ने उर्दू साहित्य से चुने हैं और वली, दर्द, ताबां, मिस्कीन, अफ़ज़ात, जुरत, मीर, सौदा, बेदार आदि की हिंदुस्तानी कवियों में गणना की है। विस्तार के भय से और उदाहरण तो नहीं दिए जासकते, लेकिन इतनी ही बातों से साफ़ ज़ाहिर है कि गिलक्राइस्ट का हिंदुस्तानी से मतलब उर्दू का था।

सन १७९८ ई० में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस मे 'दि रुडीमेंट्स अव् दि हिंदुस्तानी टंग' ('हिंदुस्तानी भाषा की मौलिक बातें') नामक एक छोटा सा ग्रंथ भी शामिल है। इस के अतिरिक्त साहबों के लाभार्थ हिंदुस्तानी में बातचीत ('डायालाग्ज़') फ़ौजी शब्दावली ('मिलिटरी टर्म्स'),फ़ौजी क़ानून ('आर्टिकिल्स अव् वार'), क़िस्से-कहानियों ('टेल्स एंड अनेकडोट्स',) कविताओं ('ओड्स'), और रेख़्ता और ग़ज़ल के रूप म हिंदुस्तानी संगीत के उदाहरण दिए गए हैं। अंगरेज़ी-हिंदुस्तानी कोष ('वोकाब्यूलरी—इंगलिश एंड हिंदुस्तानी') सन् १७९८ ई० और सन १८०२ ई० वाले दोनों संस्करणों में है। १८०२ ई० के संस्करण मे पारिभाषिक शब्द, हिंदुस्तानी गिनती, दिन आदि कुछ नए विषयों के अतिरिक्त कुछ नई कविताएं और कहानियाँ भी दे दी गई हैं। इन सब की भाषा हिंदुस्तानी है। नमूने के तौर पर कुछ उदाहरण आगे दिए जाते हैं—

thanee has been often objected to, on the ground that in that language they would be unintelligible to the bulk of the people in the various provinces of Hindoostan."

यहां पर 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का एक अर्थ में प्रयोग किया गया है। फ़ुटनोट १ पृ० ३३४ की 'हिंदी' उपर्युक्त 'हिंदी' से भिन्न है। ध्यानपूर्वक दोनों अवतरणों को पढ़ने से यह भेद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा।

"जो जड़ और डाल पात किसू क़िस्से के लोगों के दिलोंपर बहुत असीर-पज़ीर है, तौ ऊस का थोड़ाही सा उज़ आदमीयों के सुनाने के लीए चहीए. यिह कहानी भरी हुई है कई एक दिलरेश वारिदात से, कि नतीजा औ तासीर में ऊस की हम सब थोड़ा बहुत शरीक हैं. मैं कहा, "ऐ बड़े मिश्रां तुम्हें किश्रा दुख है ?" "हाए ! साहिब, मेरी लड़की को तुम ने देखा है ?" जिस शख़्स ने यिह ऐसा जवाब मुझे दीश्रा, सो वुह एक ग़रीब अंधा मर्द बैठा था, खोखरे दरख़्त की एक जड़वत पर, जिस के नीचे एक फुट हरी सी नाली बहती थी, ऊस के सिर की चाँदी की सब सोभा लूटी हुइ थी, लुटेरे वक्त के सख़्त हाथ से;—औ झोली पैबन्दी ऊस की भी खाली थी लछमी की मिहरबानी से,—एक बाँस की लाठी जिस पर ऊसके निर्बल हाथ टिके हुए थे, औ देही उस की भूख की कठिन चोट से मेरी नज़र में जो डूबने पर थी ग़श में,—औ फूटी आँखें औ थरथराती आवाज ऊस की यिह दरोबस्त देख,त्रुंत एक इबरत अदाबाना दिल में मेरे पैदा हुई. फिर ऊस सुरत जाहिरी की तरफ़ जो मूझे इस हैरत में पाबंद कीश्रा मैं तक रहा, तौ जी में बूझा, कि क़ुदरत इलाही ने इस ज़ईफ़ की पर्वरिश से एक क़लम हाथ उठाया. जो निर्मल नाला ऊसके पैरों के तले खल-खलाता था वुह भी आफ़त की ज़बान हमावाज़ हो, चों अब रूई से खड़खड़ाता रहा, गोया कि वाक़िफ़ था ऊस के पैहम हादिसों से......" (१७९८ई०)

(रोमन लिपि से)

"यूं सुना है कि हिंद में किसी वक्त एक पादशाही अदील था, उसे यिह ख़बर पहुँची, कि फ़लाने शहर का हाकिम बड़ा ज़ालिम था, सो मर गया; तब ऊसने दिल में यिह मन्सूबा कीश्रा कि अपने ख़ासुलख़ास अमीरों में जो बड़ा मुन्सिफ़ हो, सो भेजा चाहीए, कि लोग वहां के फिर अज़ीयत न पावें. उन्ह में से एक को तजबीज़ कीश्रा और मुशाहरा ऊसका औरों की निस्बत ज़ीश्रादा ठहराया और जागीर भी अच्छी मुकर्रर की, तिस पीछे रुख़सत कीश्रा, और उसे कहा. जो अदील रहेगा तो यिह हमेशा बहाल रहेगी, आख़ीरश अन्क़रीब फिर यिह

बात मशहूर हुई कि बदस्तूर-इ-साबिक़ शहर की रय्यत पर वुही बीदत रहती है, शाह ने सुन कर कुछ इल्तिफ़ात न की, क्योंकि ऊस की दानिस्त में वुह बड़ा अमीन था....."(१८०२ई०)
(रोमन लिपि से)

दूसरे उद्धरण वाली कहानी फ़ोर्ट विलियम कालिज के विद्यार्थियों को अभ्यास के रूप में दी गई थी। यह याद रखना चाहिए कि यह क़िस्से कहानियों की भाषा है जिस में 'सोभा,' 'निर्बल,' 'चतुर,' 'कठिन,' 'लगभग,' 'लजाना,' 'पात,' आदि शब्द भी आ गए हैं। परंतु इन से हमारे कथन में कोई अंतर नहीं पड़ता। उन की चुनी हुई भाषा 'ईसवीअत' का तवक्कुल काफ़िर हुआ, इस असेत्र की अज़ीअत फ़रो करने में' जैसी शब्दावली से भरी हुई है। सन १८०२ के संस्करण में अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों का हिन्दुस्तानी में जो अनुवाद किया गया वह भी हमारे कथन की पुष्टि करता है।[1]

फ़ोर्ट विलियम कालिज के विद्यार्थियों में जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा था उस से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। विलियम बटरवर्थ

[1]Abbreviation	इख़्तसार
Abstract	ख़ुलासा, इंतिख़ाब
Accusative	मफ़ूल
Adjective	सिफ़त
Adverb	हर्फ़ ज़र्फ़, तमीज़
Adverb of Time	ज़र्फ़ी ज़मान
Adverb of Place	ज़र्फ़ी मुकान
Allegory	मजाज़
Article	हर्फ़, इस्म
Case	हालत
Compound	मुरक्कब
Declinable	मुतसर्रिफ़
Future	इस्तक़बाल, मुसतक़बिल
Grammer	सर्फ़-ओ-नहो, क़ाइदा-क़वानीन
Hyperbole	मुबालग़ा
Plural	जमा

बेली, जो सन् १७९९ ई० में 'राइटर' (लेखक) की हैसियत से भारतवर्ष आए थे और जो १३ मार्च सन् १८२८ ई० से ४ जुलाई सन् १८२८ ई० तक स्थानापन्न गवर्नर रह कर बाद को कोर्ट के डाइरेक्टर तक हो गए थे, गिलक्राइस्ट के विद्यार्थी थे। कॉलिज के नियमानुसार होने वाले वार्षिकोत्सव पर ६ फरवरी सन् १८०२ ई० में हिंदुस्तानी पर उन्हों ने एक 'थीसिस' (प्रबन्ध) पढ़ा था जो सन् १८०४ ई० के लगभग प्रकाशित विद्यार्थियों द्वारा लिखे हुए लेख के संग्रह ('एसेज एंड थीसेस कंपोज्ड') में छपी थी। उक्त 'थीसिस' की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"आख़िरुल अमर यिह बोली हिंदुस्तान सब को अज़ीज़ ओ प्यारी हुई ओ अकसर मुतवत्तिनों ने इसी मुरक्कब ज़बान पर राग़िब होकर इस को अख़्ज़ कीआ कि अपने ऐसे मुआमलात जिन का इस्तिहकाम मौक़ूफ़ तहरीर पर न हो उन में इसी से कलाम करें।"

"हिंदू भी जो कदरे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अंगरेज़ी क़ौम से जिस को कुछ एलाक़: है थोड़ी बहुत हसबिहाल अपने नहीं हो सकता कि न जानें।"

"अगरचि साहिबि मुहावर: हिंदूस्तानी ज़बान क़र्बर नहीं करते कि इस में बहुत नसर की किताबें या तसानीफ़ि इलमी हैं पर कितने ऐक क़िस्से ख़ूब ओ गज़लें मरग़ूब ओ ग़ैरे नज़्म में मौजूद हैं। दरकिनार यिह कि मुआमलति महाजनी ओ लश्करी ओ मुहिम्माति मुल्की ओ ग़ैरे कि तअल्लुक़ नविश्त ख़्वांद से रखते हैं उन्हों में भी ज़बानि हिंदी जारी है।"

"ऐक फ़ाऐदाः यिह भी है कि अकसर और ज़बानों का इक्तिसाब इस की ख़ूब शिनासाई से आसान होता ओ सिर्फ़ यिही ज़बान वसील: है कि जिस से क़रार वाक़ई वेइनसाफ़ी ओ तग़ल्लुब रैयतसे दूर हो जावे।"

और चाहे जो कुछ भी हो उपर्युक्त अवतरणों की भाषा 'हिंदी', 'हिंदवी' या आधुनिक हिंदी नहीं है। नागरी लिपि का प्रयोग ज़रूर किया गया है। वह भी गिलक्राइस्ट की इच्छा के विरुद्ध। कंपनी-सरकार जानती थी कि व्यापारियों से, जो मुड़िया, कैथी आदि लिपियों का प्रयोग करते थे, संबंध बढ़ाने के लिए देवनागरी लिपि का ज्ञान परमावश्यक था।

अब रह गई 'प्रेमसागर' की बात। सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर वेलेज़ली ने गिलक्राइस्ट को फ़ारसी और हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। उन्हों ने बड़ी तेजी और मुस्तैदी के साथ पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की। इस कार्य के लिए बहुत-से मुँशी उन की अध्यक्षता में रक्खे गए। परंतु इतना सब कुछ होते हुए भी सिविलियनों को हिंदुस्तानी भाषा सीखने में बड़ी कठिनाई हुई। क्योंकि हिंदुस्तानी (या उर्दू) का प्रासाद 'भाखा' के आधार पर खड़ा हुआ था। इस लिए कॉलिज के कार्य में सहायता देने के लिये उन्हें एक 'भाखा-मुँशी' की ज़रूरत हुई। फलस्वरूप सन् १८०० ई० में लल्लूलाल, जो अपनी आजीविका के लिए कलकत्ता आए हुए थे, कॉलिज में 'भाखा-मुँशी' नियुक्त हुए। सन् १८०३-९ ई० में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना की। 'प्रेमसागरी' ब्रज-रंजित खड़ीबोली गद्य में है। आधुनिक खोजों से काफ़ी प्रमाणित हो चुका है कि लल्लूलाल द्वारा खड़ीबोली का प्रयोग कोई नई बात नहीं थी। उस से पहले भी हिंदी साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग होता था, यद्यपि साहित्य में उस को प्रमुख स्थान न मिल सका था जो धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी में मिला। साहित्यिक दृष्टि से 'प्रेमसागर' सड़ियल रचना है। सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' उस से कहीं अच्छी रचना है। लेकिन कॉलिज के पाठ्य-क्रम में उस की पूरी-पूरी उपेक्षा की गई। यदि गिलक्राइस्ट सच्चे हृदय से हिंदी गद्य के शुभ-चिंतक होते तो वे ज़रूर विद्यार्थियों को 'नासिकेतोपाख्यान' पढ़ाते। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ।

वास्तव में लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' का प्रयोजन केवल हिंदुस्तानी भाषा के लिए मुहावरों की पूर्ति करना[1] और सिविलियन विद्यार्थियों को भारतीय रहन-सहन और रीति-रस्मों का ज्ञान कराना था। यह तो सर्वमान्य है कि हिंदुस्तानी या उर्दू का प्रासाद 'हिंदुवी' के आधार पर खड़ा हुआ था, लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' ने गारे-चूने का काम दिया। उन की दूसरी प्रमुख रचना 'राजनीति' ब्रजभाषा गद्य में है। उन के 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' नामक ग्रंथों की भाषा रेख़ता या हिंदुस्तानी या उर्दू है।

[1] 'कलकत्ता रिव्यू', १८४६ ई.

"......In Hindi, the Prem Sagar, which has nought to recommend it but idiom, as the subject matter is a wearisome and endless repetition of the amours of Krishna......"

गिलक्राइस्ट जिस भाषा के पक्षपाती थे उस का लगभग सामीप्य इन दोनों ग्रंथों की भाषा में पाया जाता है। शहराती मुसलमान और उच्च स्तर के पढ़े लिखे हिंदू जिन का मुसलमानी दरबार से संबंध था लगभग ऐसी ही भाषा बोलते थे। जन-साधारण की भाषा इस भाषा से दूर थी। शासक-वर्ग उसे बहुत कम समझ पाता था। और फिर 'प्रेमसागर' की भाषा का आनेवाले साहित्य पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यह है 'प्रेमसागर' के निर्माण की कहानी और उस से गिलक्राइस्ट के संबंध का इतिहास। सन् १८०४ ई० में वे अपने घर लौट गए।

सच बात तो यह है कि गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी या उर्दू गद्य का निर्माण किया[1] न कि हिंदी गद्य का।

क्या अब भी गिलक्राइस्ट हिंदी गद्य के जन्मदाता और उन्नायक समझे जायँगे?

[1] एडवर्ड बालफ़र: 'दि इन्साइक्लोपीडिया आव् इंडिया (१८८५ ई.)', जिल्द १, पृ. १२०३

विलियम प्राइस और हिंदी

ईस्ट कंपनी के अंतर्गत शासन-सूत्र ग्रहण करते समय वेलेजली (१७९८-१८०५) ने कर्मचारियों की शिक्षा, योग्यता, सदाचरण और अनुशासन की देख-रेख के प्रबन्ध के अभाव को साम्राज्य के हित के लिये घातक समझा। कम्पनी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राजनैतिक शक्ति के अनुरूप वे उन्हें चतुर और कूटनीतिज्ञ शासक बनाना चाहते थे। उन्हें कर्मचारियों की वणिक् वृत्ति ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा के सर्वथा विरुद्ध जँची। अतएव उन्हों ने उनके पाश्चात्य राजनीति एवं ज्ञान-विज्ञान के साथ भातीय इतिहास, रीति-रस्मों, क़ायदे-कानूनों और भाषाओं के ज्ञान की संगठित व्यवस्था के लिए १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

अन्य विषयों की शिक्षा-व्यवस्था के साथ-साथ कालेज में हिन्दुस्तानी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की आयोजना भी की गई। डॉ० जान बौर्थविक् गिलक्राइस्ट (१७५९-१८४१ ई०) हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी अध्यक्षता में अनेक मुंशी और पंडित रक्खे गये।

यद्यपि वेलेजली की कालेज-सम्बन्धी वृहत् योजना कोर्ट के डाइरेक्टरों द्वारा, गवर्नर-जनरल की आर्थिक और राजनैतिक नीति से मतभेद होने के कारण अस्वीकृत ठहरी और २७ जनवरी, १८०२ ई० के पत्र में कालेज तोड़ देने की आज्ञा के बाद केवल 'बंगाल सेमिनरी' (१८०५ के लगभग प्रारम्भ से) का संचालन होता रहा, तो भी भारतीय साहित्य और भाषाओं के इतिहास मे कॉलेजका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालेज की स्थापना राजनैतिक ध्येय को लेकर अवश्य हुई थी, किन्तु घुणाक्षर न्याय से भाषा, साहित्य, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, नवीन विषयों के अध्ययन के सूत्रपात आदि की दृष्टि से भारतवासियों का हित साधन ही हुआ। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में, प्रेस की सहायता से, ऐसा संगठित प्रयास पूर्व समय में कभी न हुआ था। कॉलेज के कारण ही देश के विभिन्न भागों के विद्वान् वहाँ एकत्रित

हुए और कलकत्ता एक प्रधान साहित्यिक केन्द्र बना। प्राचीन साहित्य और भाषाओं के पठन-पाठन के साथ-साथ आधुनिक साहित्य और भाषाओं की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया गया। कालेज के पाठ्यक्रम का यह द्वितीय पक्ष ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कालेज की स्थापना के पूर्व, अन्य अनेक यूरोपीय विद्वानों के अतिरिक्त, गिलक्राइस्ट भी हिन्दुस्तानी के पठन-पाठन में संलग्न थे। १७८३ ई० में वे ईस्ट इंडिया कंपनी के संरक्षण में सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारतवर्ष आये थे। उस समय कम्पनी फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती थी, किन्तु गिलक्राइस्ट ने उसके स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन ही अधिक पाया। गवर्नर-जनरल की आज्ञा से तत्कालीन बनारस की जमींदारी में रहकर उन्होंने हिंदुस्तानी का अध्ययन भी किया और तत्पश्चात् अनेक ग्रंथों की रचना की। कम्पनी के कर्मचारियों में उन्होंने हिन्दुस्तानी का प्रचार किया। १७९८ ई० में जब वेलेज़ली कलकत्ता पहुँचे तो उन्होंने गिलक्राइस्ट के परिश्रम की सराहना की और उनके अध्ययन से पूरा लाभ उठाना चाहा। उन्होंने वैतनिक रूप से गिलक्राइस्ट तथा कुछ मुंशियों को हिंदुस्तानी और फ़ारसी भाषाओं की शिक्षा के लिये रक्खा। इस संस्था का नाम 'ऑरिएंटल सेमिनरी' रक्खा गया। सरकारी आज्ञा के अनुसार गिलक्राइस्ट यहाँ का मासिक कार्य-विवरण ('जर्नल') सरकार के पास भेजते थे। कालेज की स्थापना के समय उन्हें हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

हिन्दी-साहित्य के अब तक लिखे गये इतिहासों में लल्लूलाल और उनके 'प्रेमसागर' के नाते गिलक्राइस्ट का हिन्दी गद्य के उन्नायक के रूप में नाम लिया जाता रहा है, किन्तु यदि हम उनके भाषा-सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करें तो उनकी वास्तविक स्थिति का पता चलते देर न लगेगी। उन्होंने अपने भाषा-सम्बन्धी विचार 'आरिएंटल सेमिनरी' के 'जर्नल' के प्रथम विवरण तथा अपने ग्रन्थों में प्रकट किये हैं।

गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी भाषा संबंधी विचारों पर पीछे विचार हो चुका है। लल्लूलाल की भाषा 'हिंदी' नहीं 'हिंदवी' या 'ठेठ बोली' या 'खड़ी बोली' थी। लिपियों में देवनागरी लिपि को गिलक्राइस्ट ने अवश्य आश्रय दिया, किन्तु इससे भाषा के रूप और उसकी सांस्कृतिक पीठिका में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः उनके विचारों तथा व्यवहार में प्रयुक्त

भाषा से उर्दू गद्य की उन्नति हुई, न कि हिंदी गद्य की।[1] लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर,' सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इन ग्रन्थों के अनुरूप भाषा के प्राप्त अन्य स्फुट उदाहरणों का मुख्य प्रयोजन सिविलियन विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा ('हिन्दवी') से परिचित कराना था। 'प्रेमसागर,' 'नासिकेतोपाख्यान' आदि रचनाओं ने हिन्दुस्तानी के ज्ञानोपार्जन में गारे-चूने का काम दिया। गिलक्राइस्ट के समय में तथा उनके बाद 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ही अधिक है। हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) अथवा 'हिन्दवी' में रचे गये ग्रन्थों में 'प्रेमसागर,' 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का ही नाम लिया जा सकता है। 'नासिकेतोपाख्यान' तो कभी पाठ्य-क्रम में भी नहीं रक्खा गया। ये तथ्य भी हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।

किन्तु कॉलेज की यह भाषा-सम्बन्धी व्यवस्था कुछ वर्षों के बाद न चल सकी। इस समय तक अँगरेज़ी राज्य का विस्तार पूर्ण रूप से हिन्दी प्रदेश तक हो चुका था। फलतः कॉलेज की भाषा-सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन होना अनिवार्य था। शासन के सुचारु रूप से चलने के लिए अधिकारियों को इधर ध्यान देना ही पड़ा। कॉलेज के २५ जुलाई, १८१५ ई० के वार्षिकोत्सव के दिन ऑन० एन० बी० एडमॉन्सटन, ऐक्टिंग विज़िटर, ने अध्यापकों तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था।[2] तत्कालीन पश्चिम प्रदेश से आने वाले भारतीय सैनिक अधिकांश में ब्रजभाषा अथवा हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) भाषा का प्रयोग करते थे। इसलिए १८१५ ई० के बाद कॉलेज में ब्रज-भाषा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा, किन्तु इससे ब्रजभाषा अथवा हिन्दी गद्य के नये ग्रन्थों का निर्माण न हो सका और साथ ही कालेज में हिन्दुस्तानी की प्रधानता बनी रही। यह व्यवस्था हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष जे० डब्ल्यू० टेलर के समय तक विद्यमान थी।

२३ मई, १८२३ ई० के सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार टेलर ने कॉलेज के कार्य से अवकाश ग्रहण किया, क्योंकि उस समय वे लेफ़्टिनेंट

---

[1] एडवर्ड बालफ़र : 'दि इन्साइक्लोपीडिया ऑव इंडिया' (१८८५ ई.), जिल्द १, पृ. १२०३

[2] देखिए, 'एशियाटिक जर्नल', १८१६, में 'कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण

कर्नल हो गये थे और सैनिक कार्य से उन्हें छुट्टी नहीं मिल पाती थी। इसलिए सपरिषद् गवर्नर जनरल ने उसी आज्ञापत्र के अनुसार कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस को हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। विलियम प्राइस महोदय का सम्बन्ध नेटिव इनफ़ैंट्री के बीसवें रेजीमेंट से था। १८१५ई० से (उस समय वे केवल लेफ़्टिनेंट थे) अब तक वे ब्रजभाषा, बँगला और संस्कृत के सहायक अध्यापक और हिन्दुस्तानी, फ़ारसी आदि भाषाओं के परीक्षक की हैसियत से कालेज में कार्य कर रहे थे।

जहाँ तक हिन्दी (आधुनिक अर्थमें) से सम्बन्ध है विलियम प्राइस का विशेष महत्त्व है; क्योंकि इन्हीं के समय में कालेज में हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन हुआ। कालेज के पत्रों में 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग प्रधानतः प्राइस के समय (१८२४-२५ ई० के लगभग, से ही मिलता है। हिन्दुस्तानी विभाग भी अब केवल हिन्दी विभाग अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग और प्राइस, हिन्दी प्रोफ़ेसर अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रोफ़ेसर कहलाये जाने लगे थे।

विलियम प्राइस के अध्यक्ष होने के बाद ही २४ सितम्बर, १८२४ ई० को कालेज कौंसिल के मंत्री रडेल ने सरकारी मंत्री सी० लशिंगटन को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रकट किये :

"हिन्दुस्तानी, जिस रूप में कालेज में पढ़ाई जाती है और जिसे उर्दू, दिल्ली ज़बान आदि या दिल्ली-दरबार की भाषा के नामों से पुकारा जाता है समस्त भारतवर्ष में उच्च श्रेणी के देशी लोगों, विशेष रूप से मुसलमानों द्वारा बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। लेकिन क्योंकि मुगलों ने इसे जन्म दिया था, इसलिए इसकी मूल स्रोत अरबी, फ़ारसी तथा अन्य उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ हैं। अधिकांश हिंदू अब भी उसे एक विदेशी भाषा समझते हैं।

"फ़ारसी और अरबी से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी कालेज में विद्याध्ययन की अवधि कम करने की दृष्टि से फ़ारसी और हिंदुस्तानी भाषाएँ ले लेते हैं। फ़ारसी के साधारण ज्ञान से वे शीघ्र ही हिंदुस्तानी में आवश्यक दक्षता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। किन्तु भारत की कम-से-कम तीन-चौथाई जनता के लिए उनकी अरबी-फ़ारसी शब्दावली उतनी ही दुरूह सिद्ध होती है जितनी स्वयं उनके लिए संस्कृत, जो समस्त हिंदू बोलियों की जननी है।

"साथही यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृत का एक विद्वान हिंदुओं में प्रचलित विभिन्न बोलियों के प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति मूल संस्कृत स्रोत से सिद्ध कर सकता है। बँगला और उड़िया लिपियों के अतिरिक्त उनकी लिपि भी नागरी है। व्याकरण के सिद्धान्त (शब्दों के रूप आदि) भी बहुत-कुछ समान हैं। अन्य भाषाओं का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा संस्कृत का साधारण ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति इन भाषाओं पर अधिक अधिकार प्राप्त कर सकता है।

× × ×

"हमारा विश्वास है कि बँगला और उड़िया अपने मूल उद्गम के अधिक समीप है। किन्तु खड़ीबोली, ठेठ हिंदी, हिंदुई आदि विभिन्न नामों से प्रचलित 'ब्रजभाखा' का सामान्यतः समस्त भारतवर्ष में प्रचार है—विशेष रूप से जयपुर, उदयपुर और कोटा की राजपूत जातियों में। इसके अतिरिक्त यह उस श्रेणी के सब हिंदुओं की भाषा है जहाँ से हमारी तथा अन्य देशी सेनाओं के सैनिक आते हैं।"[1]

कॉलेज कौंसिल ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि हिंदुस्तानी भाषा के स्थान पर फ़ारसी के अतिरिक्त बँगला अथवा 'ब्रजभाखा' (जिसे ठेठ हिंदी और हिंदुई भी कहा जाता था) के पठन-पाठन के लिए कॉलेज के विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जायँ। सरकारी मन्त्री लशिंगटन ने ३० सितम्बर, १८२४ ई० के पत्र द्वारा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भेज दी। इस पत्र के अनुसार कौंसिल ने कालेज के विधान का नवीन—सातवाँ—परिच्छेद गवर्नर-जनरल के सम्मुख प्रस्तुत किया और साथ ही हर्टफ़ोर्ड में विद्यार्थियों को नागरी लिपि और हिंदी तथा बँगला की शिक्षा देने के सम्बन्ध में कोर्ट को पत्र लिखने की प्रार्थना की। २८ अक्तूबर, १८२४ ई० को गवर्नर-जनरल ने कालेज के नव-विधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और कोर्ट को पत्र लिखने का वचन दिया।[2]

कालेज कौंसिल ने नव-विधान के साथ विलियम प्राइस का लिखा एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उन्होंने अपने भाषा-सम्बधी विचार प्रकट किये हैं। उनके और गिलक्राइस्ट के विचारों में स्पष्ट अन्तर है। विलियम प्राइस का कहना है :

[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ९, पृ. ४९६-४९७, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

[2] वही, पृ. ५०१-५०३

"उत्तरी प्रान्तों की भाषाओं को आपस में एक दूसरी से भिन्न समझी जाने और एक ही मूल रूप के विभिन्न रूप न समझे जाने के कारण उनके सम्बन्ध में बड़ी उलझन पैदा हो गई है। उन सब का विन्यास एक-सा है, यद्यपि उनमें कभी-कभी शब्द-वैभिन्य मिल जायगा।

"यदि यह मान लिया जाय कि गंगा की घाटी के हिन्दुस्तान की बोलचाल की भाषा और संस्कृत के सम्बन्ध पर विचार करने का समय अब नहीं रहा, तो आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र व्याकरण कब बना? आधुनिक भाषाओं के स्वतन्त्र व्याकरण के कारण संस्कृत और हिन्दी के विभिन्न रूपों के मुख्य-मुख्य भेद हैं। यद्यपि कुछ शब्दों के सन्तोष-जनक संस्कृत रूप ज्ञात नहीं किये जा सकते, तो भी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। अधिक अध्ययन करने पर ऐसे शब्दों की संख्या और भी कम रह जायगी। इतना तो निस्सन्देह है, किन्तु सहायक क्रिया 'होना' संस्कृत धातु 'भू' से निकली है, यह मानना कठिन है।

"साथ ही ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि क्रिया संस्कृत है, किन्तु सामान्य रूप को छोड़ कर उसकी विभक्तियाँ संस्कृत से नहीं मिलतीं। क्रियाओं के रूप और कारक-चिन्ह भी सामान्यत: बिलकुल अजीब हैं। वर्तमान काल और भूत-कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग और पर-सर्ग लगा कर संज्ञाओं के काल बनाना संस्कृत भाषा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। मूल रूप चाहे जो कुछ रहा हो, अब एक स्वतन्त्र हिन्दी व्याकरण है जो एक ओर तो अपने प्रदेश की मूल भाषा के व्याकरण से भिन्न है और दूसरी ओर संस्कृत से निकली भाषाओं, जैसे, बँगला और मराठी, से भिन्न है। इसलिए उस भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जिसे हम सरलता-पूर्वक 'हिन्दी' नाम से पुकार सकते हैं, यद्यपि हिन्दुई—अपभ्रंश हिन्दवी—शब्द अधिक उपयुक्त होता।

"विदेशी शब्दों के प्रचार ने हिन्दी का कुछ ऐसा रूप-परिवर्तन कर दिया हैं कि उसकी कुछ बोलियाँ एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती हैं। उर्दू के बड़े-बड़े विद्वान् तो 'ब्रजभाखा' का एक वाक्य भी नहीं पढ़ सकते। पण्डित या मुंशी और मुसलमान शहज़ादा या हिन्दू ज़मींदार के पारस्परिक सम्पर्क से बोलियाँ आपस में और घुल-मिल गई हैं। इस पर भी प्राचीन और सञ्चित प्रान्तीय प्रवृत्तियों आदि ने इन परिवर्तनों को और भी बढ़ा कर हिंदी भाषा को अनन्त रूप प्रदान किये हैं। किन्तु इन विभिन्न रूपों का व्याकरण अपरिवर्तित रहा है। हिन्दी प्रधानत: रही एक ही भाषा

है। क्लिष्ट से क्लिष्ट उर्दू और सरल से सरल भाषा का विन्यास लगभग एक-सा है। उर्दू और भाषा के क्रमशः 'का', 'की' और 'कौ', 'के' 'की' सम्बन्ध कारक चिन्हों में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। भाषा का 'मैं मार्यो जातु हूँ' उर्दू के 'मैं मारा जाता हूँ' के लगभग समान ही है।

"ब्रजभाषा और उर्दू का जो थोड़ा-सा भेद अभी दिखाया गया है वह केवल प्रादेशिकता मात्र है। अन्य बोलियों में ऐसी अन्य प्रादेशिकताएँ हो सकती हैं। किन्तु वे अस्थिर हैं और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं हैं। बोलियों का प्रयोग भी कम हुआ है। उनका प्रचार अवश्य अधिक होने से वे हिन्दी के ही निकट हैं, जैसा कि हिंदुस्तानी के सम्बन्ध में है। यह बात खड़ीबोली के विषय में भी लागू होती है। खड़ीबोली ही, न कि 'ब्रजभाषा' जैसा कि डॉ० गिलक्राइस्ट का कहना है, हिंदुस्तानी का आधार है, उसी के अनुरूप हिन्दुस्तानी का व्याकरण है।

"अतएव प्रादेशिकता के अतिरिक्त अन्य समानान्तर विषयों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। कालेज में जो भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं उनके व्याकरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्य दृष्टि से कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं।

"हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अन्तर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फ़ारसी के हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० गिलक्राइस्ट कृत 'पालिग्लौट फ़ैब्यूलिस्ट' से एक छोटा-सा उदाहरण लेकर हम सन्तोष कर सकते हैं—

"हिन्दुस्तानी—"एक बार, किसी शहर में, यूँ शुहरत हुई, कि उसके नज़दीक के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।"

"हिन्दी—"एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पड़ौस के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।"

"दोनों के शब्द कहाँ से लिये गये हैं, इस सम्बन्ध मे बताने की कोई आवश्कता नहीं है। दोनों के रूप को बिगाड़े बिना अन्तर और भी अधिक हो सकता था।

"हिन्दी के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए। संस्कृत-प्रधान रचना जब फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है तो शब्द कठिनता से बोधगम्य होते हैं। कालेज के पुस्तकालय में एक ऐसे हिंदी काव्य, पद्मावत, की दो प्रतियाँ हैं जिनके पढ़ने में मेरा और भाषा मुंशी का निरन्तर परिश्रम व्यर्थ गया है।

"नई लिपि और नये शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी। किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी। उनका हिंदुस्तानी ज्ञान थोड़े परिवर्तन के साथ फ़ारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते हैं। हिंदी के अध्ययन में भी इससे कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु हिन्दी के साथ-साथ फ़ारसी-ज्ञान से विद्यार्थी हिन्दुस्तानी रचनाएँ सरलतापूर्वक पढ़ सकेंगे एवं हिन्दुओं और उनके विचारों से परिचय प्राप्त करने में भी कोई कठिनाई न होगी।"[1]

विलियम प्राइस के विचारों तथा कालेज की पूर्ववर्ती भाषा-सम्बन्धी नीति में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तक हिंदी-हिंदुस्तानी के आधार से सम्बन्ध है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आगे चलकर दोनों ने दो भिन्न मार्गों का अवलम्बन ग्रहण किया। राजनैतिक कारणों से खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो चुका था। टीपू सुलतान इसे दक्षिण में भी ले गया था। अरबी-फ़ारसी शिक्षित हिंदू और मुसलमानों अथवा मुस्लिम राजदरबारों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में फ़ारसी-ज्ञान का प्रचार स्वयं स्पष्ट है। इसलिए उनमें खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप का प्रचार होना कोई आश्चर्य-जनक विषय नहीं है। अँगरेजों का सर्वप्रथम सम्पर्क ऐसे ही व्यक्तियों से स्थापित हुआ था। अतः हिंदुस्तानी (उर्दू अथवा खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप) का प्रश्रय देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में हिंदी-प्रदेश से उनका अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, किन्तु ज्यों-ज्यों यह सम्बन्ध घनिष्ट होता गया त्यों-त्यों उन्हें भाषा-सम्बन्धी वस्तुस्थिति का पता भी चलता गया और एक समय ऐसा आया जब उन्हें वास्तविक परिस्थिति की दृष्टि से भाषा-नीति में परिवर्तन करना पड़ा। गवर्नर-जनरल और कालेज के विज़िटर राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लार्ड ऐमहर्स्ट, ने भी अपने १८२५ ई० के दीक्षान्त भाषण में विलियम प्राइस के विचारों का पूर्ण समर्थन किया था। उनके विचारानुसार भी फ़ारसी और उर्दू जनसाधारण के लिए उतनी ही विदेशी भाषाएँ थीं जितनी अँगरेज़ी। इसलिए उन्होंने पश्चिमी प्रान्तों की ओर

[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ९, पृ० ५०३–५०६, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

जाने वाले सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साग्रह आदेश दिया था।[1]

इस नई भाषा-व्यवस्था के अनुसार कालेज के पुराने मुंशियों से कार्य सिद्ध न हो सकता था। इन मुंशियों के निकट हिंदी और नागरी लिपि दोनों ही विदेशी वस्तुएँ थी। पहले कुछ सैनिक विद्यार्थी ऐसे अवश्य थे जो व्रजभाषा का अध्ययन करते थे। उनके लिए हिंदू अध्यापक रक्खे भी गये थे, किन्तु नैपाल-युद्ध के छिड़ते ही उन विद्यार्थियों को सैनिक कार्य के कारण कालेज छोड़ देना पड़ा। फलस्वरूप अध्यापक भी इधर-उधर चले गये। अब कालेज के अधिकारियों को फिर हिंदी-ज्ञान प्राप्त अध्यापकों की आवश्यकता हुई और साथ ही नवीन पाठ्य पुस्तकों की भी। किन्तु इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में विलियम प्राइस कोई नवीनता प्रदर्शित न कर सके। जो मुंशी पहले से अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्हीं से हिंदी भाषा और नागरी लिपि के ज्ञान की आशा की गई। इसके लिए उन्हें समय दिया गया और अन्त में परीक्षा ली गई। इस परीक्षा में लगभग सभी मुंशी असफल रहे। जो सफल हुए उन्हें हिन्दी के अध्यापन-कार्य के लिए रख लिय गया। शेष को यह चेतावनी देकर कुछ और समय दिया गया कि यदि निश्चित समय में वे हिंदी-परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकेंगे तो उनके स्थान पर अन्य सुयोग्य व्यक्ति रख लिये जायँगे। भविष्य में हुआ भी ऐसा ही। अनेक पुराने मुंशियों के स्थान पर नये अध्यापक रक्खे गये। पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में उन्होंने लल्लूलाल के ग्रन्थों तथा 'रामायण', बिहारी कृत 'सतसई' आदि पर निर्भर रहना ही उचित समझा। हिन्दी गद्य में वे नये ग्रन्थों का निर्माण न कर सके और न करा सके।

तो भी विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रयुक्त भाषा से तुलना करने पर यह भेद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। निम्नलिखित उद्धरण गिलक्राइस्ट कृत 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' के १८०२ ई० के संस्करण से लिया गया है।

बाद अज़ान काज़ी मुफ्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सज़ा है, उन्होंने अर्ज़ की, कि अगर इबरत के वास्ते ऐसा शख्स क़त्ल किया जावे, तो दुरुस्त है। तब उसे क़त्ल किया और उसके बेटे को उसकी

---

[1] दे. 'एशियाटिक जर्नल', १८२६, में 'कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण।

जगह सर्फ़राज़ फ़र्माया, शहर-शहर के हाकिम इस अदालत का आवाज़ सुनकर जहाँ के तहाँ सरी हिसाब हो गये...."

गिलक्राइस्ट के शिष्य विलियम बटवर्थ बेली ने कॉलेज के नियमानुसार होने वाले वार्षिक वाद-विवाद में ६ फरवरी, १८०२ ई० को 'हिंदुस्तानी' पर एक दावा पढ़ा था, जिसकी भाषा इस प्रकार है:

"अरब के सौदागरों की आमद ओ रफ़्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमत क़ेआमी के बाइस अलफ़ाज़ि अरबी और फ़ारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गये और ऐक ज़बान नई बन गई जैसे कि बुनियादि क़दीम पर तामीरि नौ होवे।"

केवल लिपि नागरी है। किन्तु इससे हमारे कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके पश्चात्, जनवरी, १८१० में लल्लूलाल ने अपनी 'नक़्लियात-इ-हिंदी' नामक रचना के सम्बन्ध में कॉलेज कौंसिल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, जो फ़ारसी भाषा और लिपि में है—

"खुदावन्दान नैमतदाम इक़बाल अहम

नक़्लियात-इ-हिंदी तसनीफ़ फिदवी बज़बान रेख़्ता मतज़मन अकसर जरूब अल मिसाल व दोहा व लतायफ़ ओ नआत नक़्लियात मरकूमत उल सदर बर अबुर्दा व तर्जुमा करदा जॉन विलियम टेलर व कप्तान इब्राहम लौकट साहेब बज़बान अँगरेजी अस्बुल हुकुम साहिब मुदर्रस जह ता साहबान-इ-मुतल्लमीन मुब्तदी मुन्तबह मेकर्दद व नक़्लियात मज़्कूरा तबकती: हुर्द.....

ज़्यादा: आफ़ताब दौलत ताबाँ व

दरख़्शाँबाद

अरजी

फ़िदवी श्रीलाल कवि ,,[1]

सम्भव है विलियम प्राइस से पूर्व लिखे गये हिंदी उदाहरण मिलें, किन्तु उनका वही महत्त्व और मूल्य होगा जो हिंदुस्तानी की आयोजना तथा हिंदुस्तानी के अनेकानेक प्रकाशित ग्रन्थों के बीच 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का था—अर्थात् हिंदुस्तानी (उर्दू)

---

[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १ फरवरी, १८१०, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द २, पृ०, १८२, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

की आधारभूत भाषा का ज्ञान कराने की दृष्टि से। हमारे पथ-प्रदर्शक तो प्रधानतः गिलक्राइस्ट के भाषा-सम्बन्धी विचार होने चाहिए। अपने विचारों को ही उन्होंने कार्यान्वित किया था।

अब विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के जिस रूप का प्रयोग हुआ वह ध्यान देने योग्य है। १५ जनवरी, १८२५ ई० की बैठक में कालेज कौंसिल ने ग्रन्थ-प्रकाशन के सम्बन्ध में भेजे जाने वाले प्रार्थना-पत्रों के लिए कुछ नियम बनाये थे। कालेज कौंसिल की आज्ञा से ये नियम फ़ारसी, हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी में सबके सूचनार्थ प्रकाशित हुए थे। हिंदी में नागरी लिपि का प्रयोग हुआ है। सूचना इस प्रकार है—

"इस्तहार यह दिया जाता है कि जो कोई पोथी छपाने के लिए कालिज कौंनसल में सहाय चाहता हो वुह अपनी दरखास में यह लिखे १. कि पोथी में केत्ता पत्रा और पत्रे में कित्ती औ पांति कित्ती लंबी २. कितनी पोथियां छापेगा औ कागद कैसा तिस लिए अक्षर और कागद का नमूना लावेगा ३. औ किस छापेखाना में छापेगा औ सब छप जाने में कित्ता खरच लगेगा ४. तयार हुए पर पोथी कित्ते दाम को बेंचेगा।"[1]

अव्यवस्थित वाक्य-संगठन होते हुए भी यह हिंदी है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के गद्य से यह गद्य अधिक भिन्न नहीं है। गिलक्राइस्टी भाषा में शब्दावली ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास भी विदेशी है। १८२५ ई० के उदाहरण में हम यह बात नहीं पाते। इसी प्रकार एक और उदाहरण प्राप्त है जो कालेज की परिवर्तित भाषा-नीति की ओर संकेत करता है। लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ 'नक़्लियात-इ-हिंदी' के लिए फ़ारसी में प्रार्थना-पत्र लिखा था। जुलाई, १८४१ ई० में गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के पंडित योगध्यान मिश्र 'प्रेमसागर' का एक नया संस्करण प्रकाशित करने के लिए सरकारी सहायता चाहते थे। उनका प्रार्थना-पत्र इस प्रकार है —

"स्वस्ति श्रीयुत फ़ोर्ट उलियम कालिज के नायक सकलगुणनिधान भागवान कपतान श्री मार्सल साहब के निकट मुज दीन की प्रार्थना

मैंने सुना कि कालिज में प्रेमसागर की अल्पता है इस कारण मैं छपवाने की इच्छा करता हुं और मेरे यहां छापे का यन्त्र औ उत्तम अक्षर

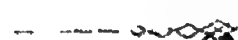
---

[1] प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम, १५ जनवरी, १८२५, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १०, पृ० ३१, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

नये (?) ढाले प्रस्तुत हैं इसलिए मैं चाहता हूँ कि जो मुझे आपकी आज्ञा होय तो मैं वही पुस्तक उत्तम विलायती कागज पर अच्छी श्याही से आपकी अनुमति के अनुसार छपवा दूं परंतु वह पुस्तक चार पेंची फरमें मे अनुमान २६० दो सौ साठ पृष्ठ होगी जो ६) छः रुपैयों के लेखे २०० दो सौ पुस्तक आप लेवें तो छापे के व्यय का निर्वाह हो सके ॥ ॥ ॥ इति किमधिकं ॥ ता० १ जुलाई सं० १८४१। श्री योगध्यान मिश्रः ॥"[1]

यह लेख उन्नीसवीं सताब्दी पूर्वार्द्ध के हिंदी गद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण समझा जा सकता है। विलियम प्राइस दिसम्बर, १८३१ ई० में पद-त्याग कर यूरोप चले गये थे। उनके बाद हिंदी-हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष भी कोई नहीं हुआ। अतएव योगध्यान मिश्र का लेख उनसे दस वर्ष बाद का और उनकी भाषा-नीति के निश्चित परिणाम का द्योतक है।

यद्यपि विलियम प्राइस हमें कोई नया गद्य-ग्रन्थ न दे सके तो भी उनके विचारों ने कालेज की भाषा-नीति में जो परिवर्तन किया वह गिलक्राइस्ट के विचारों की भ्रमात्मकता सिद्ध करने एवं वर्तमान भाषा-सम्बन्धी गुत्थी के सुलझाने की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।



[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १८ नवम्बर, १८३७—३० अक्तूबर, १८४१, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १६, पृ० ६०५, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग

भारत में अंगरेजी साम्राज्य के प्रारंभिक काल अर्थात १८वीं शताब्दी का अंतिम दशाब्द और उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग प्रथम पच्चीस वर्ष के अंतर्गत हिंदी गद्य साहित्य का अध्ययन करते समय काफी सतर्कता की आवश्यकता है। काव्य के क्षेत्र में तो कोई उलझन नहीं दिखाई देती, क्यों कि हिंदी काव्य की भाषा का स्वरूप तथा उसकी अवधारा का निश्चित रूप स्थिर हो चुका था। किंतु गद्य के क्षेत्र में भाषा के स्वरूप तथा भाषा के नाम करण के संबंध में हमें काफी अनिश्चितता मिलती है। तत्कालीन भाषा सम्बन्धी समस्या का सम्यक् रूप से अध्ययन किए बिना जब कुछ विद्वान विचार करके एक निश्चित अन्तिम निर्णय पर पहुँच जाते हैं तो उनका निर्णय वैज्ञानिक सिद्ध नहीं होता। इसी भ्रम के कारण सर जार्ज ग्रिपर्सन, फ्रेजर, ग्रीव्ज, नलिनी मोहन सान्याल आदि विद्वानों ने गिलक्राइस्ट का नाम गद्य के जन्मदाता और उन्नायक के रूप में लिया है। सन् १९३६ ई. में प्रियरंजन सेन 'कलकत्ता रिव्यू' में 'हिंदी इन दि कॉलेज आव फ़ोर्टविलियम' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में उन्हों ने अनेक ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका निर्माण फ़ोर्ट विलियम कालेज में हुआ था और जिनके साथ 'हिंदी' शब्द जुडा है। इस 'हिन्दी' शब्द के आधार पर उन्होंने उन ग्रन्थों को आधुनिक अर्थ में हिंदी के ग्रन्थ माना है। इसी प्रकार १९४० में 'विशालभारत' में ब्रजेन्द्रनाथ वंधोपाध्याय ने गिलक्राइस्ट के शिष्य वटरवर्थ वेली के लेख में प्रयुक्त 'हिंदी और हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में मानकर 'हिंदुस्तानी' नाम से एक सामान्य भाषा उत्पन्न करने का श्रेय गिलक्राइस्ट को दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के गद्य की भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य सज्जन भी प्राय: इसी प्रकार के निर्णय पर

पहुँचते हैं। इस भ्रम का मूल कारण है 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग।

यह तो सर्व विदित है कि मुसलमानों के समय में उत्तर भारत हिंद के नाम से पुकारा जाता था और 'हिंदी' का प्रयोग यहाँ के निवासियों के लिए होता था। धीरे-धीरे 'हिंदी' शब्द का प्रयोग यहाँ की एक भाषा के लिए भी होने लगा। यह भाषा सूबा हिन्द की भाषा थी। आधुनिक अर्थ में हिंदी प्रदेश की अन्य बोलियाँ 'भाषा' पूरबिया आदि के नामों से पुकारी जाती थी। अंगरेजों के समय में हिंद के स्थान पर 'हिंदुस्तानी' शब्द का अधिक प्रचार हुआ और भाषा भी 'हिंदी' के अतिरिक्त 'हिंदुस्तानी' कहलाई। 'भाषा' या भाखा और 'पूर्वी बोली' आदि शब्दों का भी बराबर प्रयोग होता रहता था। कंपनी के राजत्वकाल में 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग एक तो शास्त्रीय अर्थ में होता था, और दूसरा व्यावहारिक अर्थ में। शास्त्रीय अर्थ में हिंदुस्तानी से सूबा हिंद की मूल जनता की भाषा से तात्पर्य था जिसमें ठेठ शब्दों का प्रधान रूप से प्रयोग होता था और जो न शुद्ध संस्कृत-शब्दावली से समन्वित रहती थी और न अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदी हुई। व्यावहारिक अर्थ में हिंदुस्तानी उस भाषा का नाम था जिसका मूलाधार तो मूल हिंदुस्तानी थी किन्तु जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था और जो साधारणतया फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी और वली, मीर, सौदा, ज़ौक इत्यादि जिसके प्रसिद्ध कवि थे। लगभग १८३७ ई० तक 'हिंदुस्तानी' शब्द का इसी व्यावहारिक अर्थ में प्रयोग मिलता है। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्रयुक्त हिंदुस्तानी का रूप इस बात का साक्षी है। उसने नागरी लिपि का प्रयोग अवश्य किया, किन्तु इसके कई कारण थे जिनपर विचार करने की इस लेख में आवश्यकता नहीं है। राजकीय तथा उच्च शिक्षित वर्ग के संपर्क में आने के कारण हिंदुस्तानी का अरबी फ़ारसी मय रूप ही अंगरेजों के सामने प्रधान रूप से था। सन १८३७ तक कंपनी सरकारी तौर पर फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती रही, किंतु सामान्य शासन और सैनिक दृष्टि से उसका ध्यान हिंदुस्तानी तथा भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं की ओर आकृष्ट हो चुका था। इस संबंध में गिलक्राइस्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, यद्यपि उनसे पहले कई अन्य युरोपीय विद्वान हिंदुस्तानी भाषा की ओर आकृष्ट हो चुके थे। गिलक्राइस्ट सन १७८३ में भारत वर्ष आए थे। उन्होंने दिल्ली दरबार की अवनति के साथ-साथ

फ़ारसी भाषा की अवनति भी देखी और कंपनी के कर्मचारियों में हिंदुस्तानी का प्रचार करना परमावश्यक समझा । इस संबंध में उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा का अध्ययन किया और १८ वीं शताब्दी के अंतिम १३ वर्षों में डिक्शनरी, ग्रैमर और लिंग्वीस्ट नामक तीन प्रधान ग्रन्थ प्रकाशित किए । इन्हीं तीन प्रधान ग्रन्थों के अधार पर उन्होंने १८००-१८०४ तक के ग्रन्थों का निर्माण किया और इन्हीं ग्रन्थों में सन्निहित विचारों तथा शब्द का उन्नीसवीं शताब्दी में प्रयोग होता रहा और कुछ-कुछ अब भी हो रहा है।

गिलक्राइस्ट का हिंदुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप आदि तो विशुद्ध या मूल था शास्त्रीय अर्थवाली हिंदुस्तानी पर या 'बृज भाषा' या 'हिन्दुई' पर आधारित थे, किंतु जिसमें अरबी फ़ारसी के संज्ञा शब्दों का बाहुल्य रहता था और फ़ारसी लिपि का प्रयोग होता था । इसी हिंदुस्तानी को उन्होंने 'हिंदी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख्ता' भी कहा है । हमारी दृष्टि से केवल 'हिंदी' शब्द ही ऐसा है जो विद्वानों के दिमाग़ में उलझन पैदा कर देता है । 'हिंदी' का 'हिंद की' के अर्थ में प्रयोग किया गया है, जो शब्दार्थ की दृष्टि से बिल्कुल ठीक है 'हिंदुस्तानी' शब्द का भी यही अर्थ है। किंतु गिलक्राइस्ट ने 'हिंदी' जैसे छोटे-से शब्द के स्थान पर 'हिंदुस्तानी' शब्द इसलिए पसन्द किया ताकि 'हिंदुई' या 'हिंदवी' और 'हिंदी' शब्दों से, जो बहुत मिलते-जुलते हैं, कोई गड़बड़ी पैदा न हो सके । 'हिंदुई' को वे केवल हिंदुओं की भाषा मानते थे, जिसका प्रचार मुसलमानी आक्रमण से पहले था, और जिसमें संस्कृत तत्त्व की प्रधानता थी और जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी । इस प्रकार गिलक्राइस्ट ने 'हिंदी', 'हिंदुस्तानी', 'उर्दू' और 'रेख़्ता' पर्यायवाची शब्द माने । १८०२ में विलियम बटरवर्थ बेली ने भी 'हिंदुस्तानी' और 'हिंदी' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है । उनकी 'हिन्दी' का रूप इस प्रकार है:—

'हिन्दूस्तान' की तमाम सर ज़मीन में कम कोई मुसलमान नज़र आवेगा जो हिंदुस्तानी ज़बान समझता या बोलता न होगा ।

"हिंदू भी जो क़दरे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अगरेज़ी क़ौम से जिसको कुछ ऐलाक़: है थोड़ी बहुत हस्बिहाल अपने नहीं हो सकता कि न जानें ।"

१८०३ के लगभग फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में कुरान का अनुवाद हुआ था। अनुवाद की भाषा के लिए सरकारी विवरणों में 'हिंदी' और

'हिन्दुस्तानी' शब्दों का प्रयोग हुआ है। गिलक्राइस्ट तथा कालेज की अन्य रचनाओं में भी 'हिन्दी' का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है, जैसे, 'नक़लियात-इ-हिंदी', 'हिंदी मैन आल', 'हिंदी स्टोरी टैलर', 'मुंतख़बात-इ-हिंदी', 'लतायफ़-इ-हिंदी' आदि। १८०६ के एशियाटिक रिसर्चेज़ में सर विलियम जोन्स ने गाज़ी उद्दीन खाँ की स्त्री गन्ना बेगम की निम्नलिखित ग़ज़ल को 'हिंदी' की सर्व प्रथम ग़ज़ल कहा है:—

मुद्दई हम से सखुन साज़ व सालसी है,
अब तमन्ना को यहां मुज़दःए मोयूसी है।
आह अब कसरते दाग़े-ग़मे खूबां से तमाम,
सफ़्ए सीना मेरा जलवए ताऊसी है।

फ़ोर्ट विलियम कालेज में गिलक्राइस्ट की 'हिंदी' या 'हिन्दुस्तानी' पढ़ाने वास्ते मुंशी नागरी लिपि और प्रेमसागरी भाषा से अनभिज्ञ थे। लल्लूलाल और सदल मिश्र 'भाखा' पंडित थे न कि हिंदी पंडित। 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' ठेठ बोली, खड़ी बोली या हिंदवी के ग्रन्थ थे, न कि हिंदुस्तानी के। 'बैताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'इख्वानुस्सफ़ा', 'बाग़ों बहार', 'अनवर सुहेली' आदि हिंदुस्तानी के ग्रन्थ थे। तारिणी चरण मित्र हिंदुस्तानी के इसी लिए पंडित थे क्योंकि वे फ़ारसी के इल्म में कामिल थे। इसी प्रकार गवर्नर जनरलों के व्याख्यानों, कालेज के पत्र-व्यवहार आदि में 'हिन्दुस्तानी', 'उर्दू' और 'हिंदी' का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। कालेज तथा कंपनी के इतिहास में हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष कैप्टेन जे० डब्ल्यू० टेलर ने १८१५ ई० में सर्व प्रथम 'हिंदी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया था। उन्होंने कालेज कौंसिल को एक पत्र लिखते समय 'हिंदुस्तानी' या 'उर्दू' और 'हिंदी' में भेद और 'हिंदी' का 'हिंदुई' या 'हिंदवी' के अर्थ में प्रयोग किया। किंतु इस एक उदाहरण के अतिरिक्त टेलर के समय में भी 'हिंदी', 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' का अधिकतर एक ही अर्थ में प्रयोग होता रहा यद्यपि कभी-कभी हिन्दी का आधुनिक प्रयोग भी मिल जाता है। १८२१ में हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष कैप्टन विलियम प्राइस नियुक्त हुए। उन्होंने 'हिंदुस्तानी' या 'उर्दू' और 'हिन्दवी' की लिपि, शब्दावली, वाक्य-विन्यास आदि की दृष्टि से वास्तविक भेद समझा और गिलक्राइस्ट के विचारों की आलोचना भी की। उन्होंने भी १८२४ में 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया।

उनके बाद कालेज में निश्चित रूप से 'हिन्दी' का आधुनिक अर्थ में प्रयोग मिलता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी या उर्दू में अरबी फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य और फ़ारसी लिपि का प्रयोग माना और हिन्दी में संस्कृत तथा तद्भव शब्दों का बाहुल्य और नागरी लिपि का प्रयोग माना। उन्हीं के समय में हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) को प्रमुखता मिली और हिन्दुस्तानी मुंशियों को 'प्रेमसागरी' हिन्दी और नागरी लिपि सीखने के लिए बाध्य होना पड़ा नहीं तो उनकी नौकरी छूट जाने का डर था। 'भाखा' पंडित के साथ-साथ अब हिन्दी-पंडित भी होने लगे और कॉलेज के विज्ञापनों में हिन्दी का प्रयोग होने लगा। कंपनी के राजकीय पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' या 'उर्दू' शब्दों और भाषा का प्रयोग होता रहा। प्रारम्भ से ही कंपनी ने और स्वयं गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दी' शब्द के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द अपनाया था। अस्तु, १८२४ के बाद हमें निश्चित रूप से हिन्दी और हिन्दुस्तानी शब्दों के अर्थ में अंतर मिलता है। 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' शब्दों का प्रयोग कम होते-होते अंत में लुप्त हो गया और 'हिंन्दी' शब्द ही रह गया। इसी बाद के रह गए हिन्दी शब्द का ही आधुनिक काल में प्रयोग होता है।

प्राइस ने अकारण ही 'हिन्दी' शब्द 'हिन्दवी' के अर्थ में ग्रहण नहीं कर लिया था। जनसाधारण में 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' का गिलक्राइस्टी भेद अधिक प्रचलित नहीं था। उनका यह भेद कंपनी और उसकी सरकारी नीति तक ही सीमित था। श्रीरामपुर मिशनरियों ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का शास्त्रीय अर्थ ग्रहण कर 'हिन्दुई' या 'हिन्दी' को उसका एक रूप माना है। सन् १८१२ में प्रकाशित चौथे संस्मरण में उनका कहना है:—

"We apply the Hindooee or Hindee to that dialect of the Hindoosthanee which is derived principally from the Sungskrit, and which, before the invasion of the Musalmans, was spoken throughout Hindoosthan. It is still the language most extensively understood, particularly among the common people."

अर्थात् "हम हिंदुई या हिन्दी नाम हिंदुस्तानी की उस बोली को देते हैं जो प्रधानतः संस्कृत से निकली है और जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व सारे हिन्दुस्तान में बोली जाती थी। जन-साधारण में सबसे अधिक समझी जाने वाली अब भी यही भाषा है।"

अस्तु, सरकारी हलकों और फ़ोर्ट विलियम कालेज से बाहर ईसाई पादरियों और गैर सरकारी अध्ययनशील अँग्रेजों में 'हिन्दी' 'हिन्दवी' का

यह भेद प्रचलित नहीं था। इसलिये गिलक्राइस्ट द्वारा गृहीत अर्थ के आधार पर पुराने ग्रन्थों या पोथियों में प्राप्त 'हिन्दी' या 'हिंदुस्तानी' शब्दों का 'उर्दू' अर्थ लेना भी सरासर भूल होगी। जहाँ हिन्दी या हिन्दवी और हिन्दुस्तानी का एक अर्थ में प्रयोग हुआ है वहाँ 'हिन्दुस्तानी' शब्द का शास्त्रीय अर्थ लेना चाहिए। वास्तव में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार कम्पनी राज्य के अन्तर्गत ब्रज भाषा, पूर्वी, बुंदेलखंडी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू, रेख्ता, हिन्दवी आदि शब्दों का प्रायः बड़ा अनर्गल प्रयोग मिलता है। एक अंगरेज समीक्षक ने तो 'हिन्दी', 'उर्दू', 'रेख्ता', 'हिंदुस्तानी', ब्रजभाषा, आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। कंपनी तथा कालेज ने तो निश्चित रूप से १८२४ तक 'हिन्दी', 'उर्दू', 'हिन्दुस्तानी' या 'रेख्ता' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया था। सैद्धांतिक रूप से इन शब्दों का किसने किस अर्थ में प्रयोग किया, यही देखकर हमें अपना निर्णय करना चाहिए।

सैयद इंशा उल्लाह ख़ाँ

फ़ोर्ट विलियम कालिज की स्थापना से हिन्दी गद्य-साहित्य का कोई विशेष विकास न हो सका। उससे पहले भी साहित्यिक कार्यों के लिये हिन्दी में गद्य का प्रयोग हो चुका था हिन्दी गद्य को हमारे, आधुनिक साहित्यिक गद्य के निकट लाने का कार्य उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही प्रारम्भ हो गया था। तत्कालीन साहित्यिक निर्माताओं द्वारा डाली गई दृढ़ नींव पर ही आज हमारे गद्य-साहित्य का महान् प्रासाद खड़ा किया जा रहा है।

साहित्य की उस विकासावस्था के पूर्व तीन बोलियों का विशेष प्रचार रहा। पूर्व में अवधी, पश्चिम में खड़ी बोली और मध्यदेश में ब्रजभाषा। परंतु साहित्य के निर्माण का कार्य अवधी और ब्रज में ही हुआ। इन दोनों भाषाओं में महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। खड़ी बोली केवल बोलचाल की भाषा थी। इसमें साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था, यद्यपि कहीं कहीं इसका प्रयोग हो चुका था। इसीलिए हमें प्राचीन गद्य जो थोड़ा बहुत मिलता है वह ब्रज में मिलता है।

ब्रज और अवधी में ज्यों-ज्यों साहित्य बनने लगा, त्यों त्यों वे जन-समुदाय की भाषा से अलग होने लगीं। वे शिक्षित या साहित्य-सेवी लोगों की भाषाएं हो गई थीं और उनको सदैव पवित्र बनाये रखने का उद्योग होता रहता था। परंतु इतिहास की उद्धरणी होती रहती है। उस समय खड़ी बोली बोलचाल की भाषा थी। आज वह साहित्य के सिंहासन पर आरूढ़ है और अवधी और ब्रज पीछे हटती गई हैं। जब जब भाषा जन-समुदाय की बोलचाल से अलग हो जाती है तब-तब उसमें क्रांति होती है।

फोर्ट विलियम कालिज द्वारा हिन्दी गद्य की व्यवस्था हुई, परंतु यह कहना कि अंगरेज़ों के ही कारण हमारे गद्य का प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं। सदल मिश्र और लल्लूलाल अवश्य अँगरेज़ों के आश्रय में रह कर अपना कार्य कर रहे थे, परंतु इनसे अलग 'कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और

काव्य-कुशलता की उमंग में आकर' इंशा अपने ग्रन्थ की रचना कर चुके थे। वास्तव में यदि अँगरेजों की ओर से कोई व्यवस्था न भी होती तो भी हमारे गद्य-साहित्य का प्रादुर्भाव उसी प्रकार होता जिस प्रकार कि हुआ। वह तो जनता की उस मूल हृद्गत प्रेरणा का प्रवाह था जो किसी भी प्रकार की राजनीतिक परिस्थिति होने पर भी अबाध गति से प्रवाहित होता। उसी प्रेरणा का स्पष्टीकरण इंशा उल्लाह खाँ द्वारा हुआ।

इंशा ने 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' सन् १८०० और १८०३ के बीच में लिखी होगी। इन्होंने अपने ग्रन्थ में रचना-काल नहीं दिया। वे लल्लूलाल और सदल मिश्र के समकालीन अवश्य थे, परंतु अपने ग्रन्थ की रचना उन दोनों से पहले कर चुके थे।' 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना सन् १८०३ में हुई थी इससे 'रानी केतकी की कहानी' की रचना अवश्य उससे पहले हुई होगी। इंशा के इस ग्रन्थ पर विचार करने से पूर्व हमें उनकी जीवनी पर दृष्टिपात करना आवश्यक है क्योंकि उनकी जीवनी का प्रभाव उनकी भाषा और शैली पर पड़ा है।

इंशा के पूर्वज समरकंद के रहने वाले थे। धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ये लोग पहले काश्मीर में और फिर दिल्ली में आकर बस गये थे। दिल्ली में शाही दरबार में उन्हें अच्छा सम्मान प्राप्त हुआ। इनके पिता का नाम माशा उल्लाह खाँ था जो एक अच्छे हकीम और शायर थे। ये (माशा उल्लाह खाँ) भी राज-दरबार में हकीम नियुक्त हुए। परंतु उस समय मुग़ल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अतएव माशा उल्लाह खाँ दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले आये। यहाँ भी उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा होती रही। यहीं पर इंशा का जन्म हुआ। ये स्वभाव से चंचल और तीव्र बुद्धि थे। बाल्यकाल से ही इनको कविता करने का शौक़ था।

परंतु मुर्शिदाबाद में नवाबों की शक्ति क्षीण हो जानेके कारण इंशा को दिल्ली में शाह आलम के दरबार में आना पड़ा। यद्यपि शाहआलम अपना आलम गँवाकर झूठे शाह बने बैठे थे, तो भी काव्य-प्रेम उनमें अभी शेष था। इससे उसने इंशा को अपने दरबार में रख लिया। ये बड़े ही विनोद-प्रिय थे। फुदकती हुई कविताएं सुनाने के अतिरिक्त ये बड़ी चटपटी तथा मनोरंजक कहानियाँ उस 'आलम के शाह' को सुनाया करते थे। परंतु शाह के धनहीन होने के कारण इन्हें आर्थिक सहायता बहुत कम मिलती थी जिससे इन्हें अपने दिन बड़े कष्ट के साथ व्यतीत करने पड़ते थे।

उसी समय अवध का नवाब आसफुद्दौला मौला से भी दो हाथ ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ था। उसकी उदारता की प्रशंसा चारों ओर फैल रही थी। इंशा साहब को भी उन्हीं के सामने नाक रगड़ने की सूझी। वे दिल्ली से लखनऊ आये और नवाब साहब की खिदमत में हाज़िर हुए। इंशा रँगीली, रसीली और मस्ती से भरी तबियत वाले और 'चंचलता में पारे के समान' थे, बस मान प्राप्त करने में अधिक विलंब न हुआ। कुछ काल व्यतीत होने पर एक दिन हँसी-हँसी में नवाब में और इनमें मनमुटाव हो गया। आत्माभिमानी तो थे ही, ये दरबार छोड़कर एकांत वास करने लगे। सात वर्ष के एकांत वास के पश्चात् सन् १८१६ में ये स्वर्ग को सिधारे।

जिस समय सैयद साहब लखनऊ में थे, उस समय आपने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। कहानी के 'जोबन' का उभार संक्षेप में इस प्रकार है—

सूरजभान देश का राजा था और लक्ष्मी-वास उनकी रानी थी। उनके एक बेटा था जिसे सब लोग कुँवर उदैभान पुकारते थे। 'उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी।' उसकी 'मसें भीनती' चली जा रही थीं कि एक दिन 'अल्हड़पन' के साथ 'देखता भालता चला जाता था'। इतने में उसे एक हिरनी दिखाई थी और उसने 'सब छोड़छाड़' उसके पीछे घोड़ा फेंका। दौड़ते-दौड़ते वह एक अमराइयों में जा पहुँचा जहाँ 'चालीस पचास रंडियाँ एक से एक जोबन में अगली झूला डाले पड़ी झूल रही हैं और सावन गाती हैं'। सब के साथ रानी केतकी के हृदय में उसने घर कर लिया। उदयभान ने जब बिछौना किया, तब रातको केतकी ने अपनी सहेली मदनबान से अपने 'जोड़े' से मिलाने के लिये प्रार्थना की। मदनबान केतकी के लिये वहाँ पहुँची जहाँ उदयभान सो रहा था। वहाँ दोनों में बातचीत हुई और यह पता खुला कि केतकी राजा जगत प्रकाश की बेटी है और उनकी माँ रानी कामलता कहलाती हैं। उसी समय दोनों में 'गँठजोड़' हुआ। फिर 'अपनी अँगूठियाँ हेर फेर' कीं और 'लिखौती' लिख दी। उदयभान ने 'एक धीमी सी चुटकी भी ले ली'। पिछले पहर रानी अपनी सहेलियों के साथ जिधर से आई थी चली गई और उदयभान अपने घोड़े पर सवार हो अपने घर पहुंचे।

परंतु कुँवर उदयभान बहुत खिन्न रहने लगा। उसे खाना, पीना, सोना आदि कुछ भी अच्छा न लगता था। होते-होते यह बात महाराज और महारानी तक भी पहुँची। उदयभान से जब उस विषय में पूछा गया

तो उसने लिखकर अपने माता-पिता को सब हाल बता दिया । महाराजा ने भी कुँवर को विश्वास दिलाया कि उदास मत हो। यदि रानी केतकी के माँ-बाप राज़ी से मान जाएँगे तो और यदि न मानेंगे तो ढाल तलवार के ज़ोर से हम तुम्हारी दुल्हिन तुम्हें दिलवादेंगे। राजा ने एक ब्राह्मण संदेश लेकर भेजा। परंतु उधर से प्रस्ताव अस्वीकृत। बस, उदयभान के पिता ने जगत प्रकाश पर चढ़ाई कर दी। जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी तो 'रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी' । कुँवर ने चुपके से कहला भेजा कि इन दोनों को लड़ने दो, हम तुम मिलकर किसी और देश को निकल चलें। 'रानीने चिट्ठी को अपनी आँखों लगाया' और उस चिट्ठी का उत्तर 'मुँह की पीक' से लिखकर भेज दिया।

उधर जगत प्रकाश ने अपने को अत्यंत संकट में देखकर अपने गुरु को, जो कैलाश पर्वत पर रहता था, स्मरण किया और कहा कि हमारी कुछ सहायता कीजिए । गुरु जी ने उदयभान, सूरजभान और रानी लक्ष्मीबास को हिरण हिरणी बनाकर बन में छोड़ दिया। राजा के विनती करने पर जोगी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अशीर्वाद दिया कि 'दून दूनाओ, सुख चैन से रहो' ! उसने राजा को एक बाघंबर और भभूत दिया और कहा कि जब 'गाढ़' पड़े तो इसमें से एक बाल फूँक देना और बात की बात में हम आ पहुँचेंगे। रहा भभूत, सो यह ऐसा है कि यदि नेत्रों में इसका अंजन करो तो अदृश्य हो जाओ।

उदयभान को न पाकर रानी केतकी अत्यंत व्याकुल हुई। वह अपनी सखी मदनबान के सामने रोने लगी। परंतु मदनबान ने उसकी सहायता न की। एक रात रानी केतकी ने आँख-मिचौनी के बहाने अपनी माँ से भभूत ले ली और उसे लगा कर अदृश्य हो कुँवर उदयभान की खोज में चल पड़ी। राजा जगत् प्रकाश अपनी कन्या को न देखकर व्याकुल हुए । उन्होंने जोगी महेंद्रगिरि को बुलाया और सब को ढूँढ़ने लाने के लिये प्रार्थना की। गुरु ने तीनों को फिर मनुष्य बना दिया, विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। समस्त भूमंडल और स्वर्ग आदि सजाये गये। अंत में दोनों का विवाह हो गया। बस—

'जी लगा कर केवड़े में केतकी का जी खिला।
सच है दोनों के जियों को अब किसी की क्या पड़ी ॥'

इंशा की इस कहानी को हम कहानी कला की दृष्टि से देखें तो यहां भी हम उनको एक नवीन धारा के प्रवर्त्तक के रूप में देखते हैं। कहानी के

पारायण से हमें यह ज्ञात होता है कि यह लौकिक शृंगार से ओतप्रोत हैं। अब तक हमारे सम्मुख जो कथानक थे उनका आविर्भाव धार्मिक भावना की प्रेरणा से हुआ था। सूफ़ी कथानकों में अवश्य प्रेम है, शृंगार है; परंतु उस प्रेम तत्व में भी धर्म के प्रचार की भावना सन्निहित है। जन समुदाय को अपने धार्मिक विचार सुबोध बनाने के लिये उन्होंने अत्यंत सरल और मनोरंजक मार्ग ढूँढ़ निकाला था। उनमें हमें स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक अभिव्यंजना मिलती है। परंतु इंशा ने ही सर्व प्रथम हिन्दी-साहित्य में लौकिक शृंगारमय प्रेमाख्यान की सृष्टि की। उनके पीछे प्रेमाख्यानकों का आदर्श उपस्थित था, इसलिए उन्होंने भी हिंदू पात्र लिये। केवल इतना ही अंतर रखा कि उन्होंने गद्य और लौकिक प्रेम का प्रयोग किया। उनका ध्येय धार्मिक भावना का प्रचार नहीं था और धर्म वैसे भी इंशा जैसी फुदकनी तबियत वाले व्यक्ति के लिये नीरस और शुष्क सिद्ध होता।

यह एक कहानी है। इसका समर्थन स्वयं लेखक के तीन कथनों से होता है। एक तो 'रानी केतकी की कहानी' का 'कहानी' शब्द इस बात का द्योतक है कि लेखक ने इसमें किसी कथा का वर्णन किया है। दूसरे वह आरंभ में ही लिखता है—

'यह वह कहानी है..........'

तीसरे वह कहता है—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए......'। हम इस बात का दिग्दर्शन भी करा चुके हैं कि इस कहानी का वातावरण पार्थिव है, उसमें लौकिक शृंगार का वर्णन है, कहानी के पात्र हिंदू हैं और इसमें धार्मिक निदर्शन नहीं है। अब हम कहानी के आवश्यक तत्त्वों के विचार में इस पर विचार करेंगे।

इसमें अलौकिक घटनाओं का समावेश है। कुछ सज्जन इस पर आपत्ति करेंगे और इसे एक त्रुटि मान कर लेखक के परिश्रम को व्यर्थ बनाने की चेष्टा करेंगे। परंतु थोड़ा ध्यान देने से आपत्ति का निराकरण सहज ही में हो जायगा। हमारे साहित्य ही में क्या संस्कृत साहित्य में भी प्रेमाख्यान सुखांत रखे गये हैं। आचार्यगण कला की सार्थकता ही इस बात में समझते थे कि वह मनुष्य की आत्मा को सुखी बना कर उन्नत करे। दर्शक जब प्रेक्षा गृह से लौटें तो जीवन के प्रति आशावादी बन कर जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति की आकांक्षा से अपने प्राणों की भी चिन्ता

न कर अपनी बलि दे दें। साफल्य उनका अनुसरण करेगा। हमारे प्राचीन लेखकों का यही आदर्श था। यद्यपि मेरे विचार में इससे कला और वास्तविकता की दृष्टि से कृत्रिमता आ जाती है, ग्रंथकार का जीवन-चित्र झूठ हो जाता है क्योंकि इस संसार में संयोग होना, सफलता प्राप्त करना आवश्यक नहीं हैं, परंतु उन्होंने कला को सदुद्देश्य की ओर ही निर्दिष्ट किया। इंशा ने इस विषय में प्राचीन प्रशस्त मार्ग का ही अनुकरण किया। यदि वे अलौकिक घटनाओं का समावेश न करते तो उदयभान और उसके माता-पिता पास ही चरते फिरते, स्वर्ग और दोनों राज्यों की सीमाएँ वीरान पड़ी रह जाती और अंत में, स्वयं इंशा 'नाक रगड़ते' रह जाते। तब कहानी का जो सुखांत रूप हमारे सन्मुख है, न होता। अस्तु कथानक की दृष्टि से यद्यपि यह स्वाभाविक नहीं है, तो भी कथानक को सुखांत बनाने के लिये यह आवश्यक था कि उसमें अलौकिक घटनाओं का समावेश हो। मनोरंजन की दृष्टि से भी ये अपेक्षित हैं।

पात्रों और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हमें कुछ निराश होना पड़ता है। पात्र सब हिंदू हैं। इस कहानी में रानी केतकी, उदयभान, मदनबान, दोनों राजा और रानी, जोगी महेन्द्रगिरि, इन्द्र और केतकी की अन्य साखियां पात्र पात्रियां है। सब क्रिया शील हैं।

रानी केतकी राजा जगत् प्रकाश की लाड़ली पुत्री है। सर्व प्रथम जब हमारा उससे परिचय प्राप्त होता है तब हम उसे नाज़ और अंदाज़ और नुकीली निगाह वाली असाधारण सुंदरी परंतु साधारण स्थिति की स्त्री पाते हैं। वह 'रंडियों' के समूह में से निकल कर आती है और हम उस समय तक यह नहीं जानते कि वह एक राजा की राज कुमारी है। उसका कुँवर उदयभान से बातें करने का ढंग इस बात का द्योतक नहीं है कि वह एक राजकुमारी है। यह मैं मानता हूं कि कहानी कल्पना संभूत है और एक भिन्न वातावरण और संस्कार में पोषित लेखक द्वारा लिखी गई है, परंतु जब वे एक हिंदू राजकुमारी का चित्र चित्रित करने जा रहे थे तो उन्हें हिन्दू कुमारियों की भांति उसका चित्रण ही करना था। यदि लेखक इतना न कर सका तो वह सफल लेखक नहीं कहा जा सकता। वह आरंभ से ही प्रेमिका के रूप में हमारे सन्मुख आती है। धीरे धीरे उसका प्रेम प्रस्फुटित होता है और एक तीव्र रूप धारण कर लेता है। उसका प्रेम आदर्श प्रेम है। वह उदयभान के लिये चाहे जो कुछ कर सकती है। मदनबान यदि उदयभान-हरिण की खोज में सहायता करना

नहीं चाहती तो न करें केतकी स्वयं अपने 'भ्रमर' को खोजेगी। परंतु प्रेम के इस गंभीर और तीव्र रूप में लेखक फिर एकाध ऐसी बात ले आता है कि जिससे वह प्रेम एक खिलवाड़ सा प्रतीत होने लगता है। जब दोनों राजा लड़ रहे थे, तब उदयभान ने केतकी के पास कहीं भाग चलने के लिये पत्र लिख भेजा। केतकी ने उसका उत्तर पान की पीक से लिख कर भेजा। मालूम होता है केतकी ने उदयभान की आत्मा पर थूक कर उसके प्रेम का उत्तर दिया हो। केतकी युद्धस्थल में तो थी नहीं वह अवश्य राज महल में और फिर प्रेम पीड़ित कुँवर के लिये थूक से चिट्ठी लिखकर भेजना कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है। संभव है लेखक की हास्य प्रकृति इसके मूल में हो। परंतु वह प्रकृति का बड़ा निष्ठूर प्रयोग है और लेखक के संयम की निर्बलता प्रकट करता है। विवाह के बाद वह हमें दुल्हिन के ही रूप में दृष्टिगोचर होती है। केतकी के प्रेम का दिग्दर्शन मात्र लेखक ने किया है। उसके गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण हमारे सन्मुख नहीं है। तीन हास्यास्पद और अनुपयुक्त स्थलों को छोड़ केतकी हमारे सन्मुख आदर्श प्रेमिका के रूप में आती है।

कुँवर उदयभान एक राज कुँवर है। वह शिकार खेलने जाता है। भिन्न भिन्न वीरोचित कार्य करता है। शौर्य के साथ साथ प्रेम करने में भी वह दक्ष है। अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने के लिये वह सब कुछ सहने के लिये प्रस्तुत है। परंतु जब तक वह हरिण बना रहता है वह हमारे सामने से अदृश्य हो जाता है और अन्त में प्रेमी के रूप में अपनी प्रेमिका का अवगुंठन खोलता हुआ, उसके चांद से मुखड़े, मिस्सी लगे दांतों आदि की दाद देता हुआ और सखियों से हास परिहास में संलग्न दृष्टिगोचर होता है। उसमें कार्य की प्रेरणा उसी समय मिलती है जब कि वह रानी केतकी को लेकर किसी दूसरे देश को चला जाना चाहता है। अन्यथा वह भी प्रेमी के ही रूप में हमारे सन्मुख है गार्हस्थ्य जीवन उसका भी नहीं है। और न लेखक को यह अभीष्ट था।

राजा और रानी सामर्थ्यवान पिता और माता की भाँति हैं जो अपनी संतान के लिये जो चाहे कर सकते हैं। जिस उदयभान के साथ राजा जगत प्रकाश अपनी पुत्री का विवाह न करना चाहते थे अंत में अपनी पुत्री की दशा पर विचार कर उसी के साथ विवाह कर देते हैं। सूरजभान वीर पुरुष है। वह अपनी स्थिति से निम्न नहीं होता। जगत प्रकाश तो विपत्ति पड़ने पर जोगी की शरण में चला जाता है।

मदनबान एक चतुर और बुद्धिमान सखी है। यदि वह केतकी और उदयभान के प्रेम में सहायक हो सकती है और केतकी को उदयभान से मिला सकती है, तो वह केतकी को इतनी मूर्खता भी नहीं करने दे सकती कि वह हरिण के पीछे-पीछे मारीमारी फिरे। प्रेमी की दृष्टि में मदनबान का यह कार्य अवश्य खटकेगा किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उसने अत्यंत बुद्धिमानी का कार्य किया। केतकी आत्म-शक्ति द्वारा उदयभान को पहचान सकती तो अवश्य पहचान लेती, नेत्रों द्वारा प्रेम के मूक आह्वान-द्वारा वह उस हरिण को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती तो अवश्य कर लेती, परंतु कितना असंभव सा लगता है। इस समय उसके प्रेम का कसौटी पर कसे जाने का अवसर लेखक ने खो दिया।

जोगी और इन्द्र केवल कुतूहल और आश्चर्य मात्र उत्पन्न करने के लिये आये हैं। उनके समावेश का कोई धार्मिक कारण नहीं है। दूसरे कहानी को सुखांत बनाने के लिये इन दो कहानियों की सृष्टि की गई है। इन्द्र तो प्राचीन नाम है, परंतु वह यहां एक ऐंद्र जालिक का सहायक चित्रित किया गया है।

वार्तालाप के लिये कहानी में कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह वर्णनात्मक है। परंतु जहां पर वार्तालाप हैं, वे बड़े मनोरंजक और स्वाभाविक हैं। रानी केतकी और मदनबान का वार्तालाप स्वाभाविक और चित्ताकर्षक है।

अस्तु, कहानी के उपर्युक्त तीनों आवश्यक तत्त्वों की दृष्टि से हम इस कहानी को मध्यम श्रेणी का स्थान दें तो कोई अन्याय न होगा। नगरों के वर्णन अत्युक्तिपूर्ण हैं। वास्तव में कहानी के चरित्र-चित्रण, उसके वातावरण और उसके वर्णनों के निर्माण में लेखक की प्रगति तथा व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व अधिक है। अपनी फुदक और चंचलता को लेखक छोड़ नहीं सका, इससे कहीं-कहीं अनभिलषित बातों का समावेश हो गया है। कहानी में गंभीर तथ्यों का निरूपण बंध्या पुत्रान्वेषणवत् है।

कहानी की भाषा पर विचार करते समय हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इंशा ने एक प्रतिज्ञा करके इसको लिखा था। भाषा के जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने यह कहानी लिखी थी उसका आरंभ इस प्रकार है—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले,

तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो। हिन्दवीपन···भी न निकले और भाखा पन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही डौल रहे और छाँह किसी की न दे····।'

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य हिंदी लिखने का था जिसमें 'हिन्दी की छुट' और किसी बोली की पुट न रहे। उपर्युक्त उद्धृत गद्यांश में 'भाखा' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'भाखा' में उनका आशय ब्रजभाषा या और किसी बोली से नहीं है। मुसलमान संस्कृत मिश्रित हिन्दी—साहित्यिक हिन्दी—को 'भाखा' के नाम से पुकारते थे। इंशा का आशय भी संस्कृत शब्दों के बहिष्कार करने का है। अस्तु, इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फ़ारसी, तुरकी; गँवारी अर्थात् ब्रजभाषा अवधी आदि; भाखापन अर्थात् संस्कृत शब्दों का मेल।

इंशा ने पहली प्रतिज्ञा में शब्दों के विषय में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अरबी, फ़ारसी आदि के शब्दों का प्रयोग नहीं किया। परंतु फिर भी वाक्य-विन्यास में 'मुअल्लापन' आ ही गया है परंतु बहुत कम। जैसे—

'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूं अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया।''

''इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को।''

''रानी केतकी का चाहत से बेकल होना और मदनबान का साथ देने से नाहीं करना और लेना उसी भभूत का, जो गुरुजी दे गए थे, आँख मुचौवल के बहाने अपनी माँ रानी कामलता से।'' ''आन पहुँचना'', आदि।

''गँवारी'' को दूर करने में हम उन्हें पूर्ण रूप से सफल नहीं कह सकते। ब्रज भाषा के शब्द जैसे—'बासन', 'सकत', 'जोत', 'यों', 'निगोड़ी', 'बिनसपत्ती', 'तलक' आदि पाये जाते हैं। माँ (में) आदि अवधी के हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। संभव है ये शब्द भले लोगों के बोल चाल में प्रयुक्त होते हों। इस दृष्टि से इन शब्दों का प्रयोग क्षम्य है।

'भाखापन' को दूर करने में लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि 'कि' आदि शब्द 'बाहर की बोली' के मिल भी जाते हैं, परंतु संस्कृत के शब्दों का पूर्ण रूप से बहिष्कार है।

इंशा की भाषा में एक बड़ी विशेषता है। आधुनिक हिन्दी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, परंतु उनमें वचन नहीं होता। पुरानी उर्दू में यह बात थी। उसमें कृदंतों और विशेषणों में वचन-सूचक चिह्न लगते थे। इंशा के गद्य में ऐसे प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलते हैं। उदाहरण—

'आतियां जातियां जो साँसें हैं, उसके ध्यान बिन यह सब फाँसें हैं।"

"निवाड़ी, फूलनी, बजरी, लचकी, मोरपंखी, स्याम सुंदर, राम सुंदर और जितनी ढब की नावें थीं, सुनहरी, रुपहरी, किसी किसी में सौ सौ लचकें खातियां, आतियां, जातियां, ठहरातियां, फिरतियां थीं। उन सभी पर खचाखच कुंजनियां, रामजनियां, डोमिनियां भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती, गाती, बजाती, कूदती, फाँदती धूमें मचातियां, अंगड़ातियां, जम्हातियां, उँगलियां नचातियां और ढुली पड़तियां थीं।"

"घरवालियां जो किसी गैल मे बहलातियां हैं।"

अब, इंशा की शैली पर विचार करना है। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढँग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफ़िल में आते हैं!" वास्तव में इंशा की लेखनी बड़ी चुलबुली हैं। उसमें गांभीर्य नहीं, कूद फाँद है। अक्षर-अक्षर शब्द-शब्द में एक प्रकार की फुदक है जो हिन्दी गद्य के बाल्यकाल में उसके सजीवता पूर्ण भविष्य का परिचायक था।

इंशा जिस बात को कहना चाहते हैं उसे सीधे-साधे ढंग से न कहकर घुमा फिरा कर कहते हैं! अपनी भाषा में बिना उपमा और रूपकों का प्रयोग किये, बिना नमक मिर्च लगाये, वे किसी बात को कहना ही नहीं जानते। जैसे--

"मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुंझला कर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोल कर उँगलियां नचाऊँ और बे-सिर बे-ठिकाने की उलझी सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझ से न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता।"

"दहना हाथ मुँह पर फेर कर आप को जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।"

अपने भावों और विचारों को और भी स्पष्ट करने के लिये लेखक ने चटपटे मुहावरों का प्रयोग किया है। इससे इंशा के गद्य में सजीवता ही नहीं आई वरन एक प्रकार का रँगीलापन भी आ गया है। 'जैसा मुँह वैसा थप्पड़', 'छाती के किवाड़ खुलना', 'हिचर मिचर न रहे', 'आठ-आठ आँसू रोना' 'कुछ दाल में काला है', 'भरभर झोली सिर निहुराना', 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़े' आदि मुहावरों के अत्यंत सुंदर प्रयोग हैं।

इंशा ने जिस विषय को उठाया है उसका वर्णन जी भर कर किया है। उस समय वे अपना समस्त शब्दकोष रिक्त कर देते हैं। यदि किसी प्रसंग या वस्तु या दृश्य का वर्णन थोड़े से शब्दों में हो सकता है तो इंशा साहब उससे और भी अधिक शब्दों का प्रयोग कर उसका वर्णन करते हैं। इसमें वे पाठक के मनोरंजन के सदुद्देश्य से प्रेरित होते हैं। वे नहीं चाहते कि हम जो कुछ लिखें वह दूसरों को नीरस प्रतीत हो। उदाहरणार्थ, 'हमें ऐसी क्या पड़ी जो इस घड़ी ऐसी झेल कर रेल पेल ऐसी उठें और तेल फुलेल भरी हुई उनके झाँकने को जा खड़ी हों।' 'केतकी का भला लगना लिखने पढ़ने से बाहर है। वह दोनों नैनों की सजावट और पुतलियों में लाज की सजावट और नुकीली पलकों की रूँधावट हँसी की लगावट और दन्तरियों मे मिस्सी की ऊदाहट और इतनी सी बात पर रुकावट है।' इन बातों को लेखक साधारण रूप में भी कह सकता था। परंतु फिर उसके वैचित्र्य और सरसता पूर्ण स्वभाव का विकास कहां होता ?

लेखक की इस प्रवृत्ति का और भी उत्तम विकास उसके शब्द-चित्रों में होता है। अपने शब्द-भंडार की शक्ति से, अपनी भाषा को विषयानुकूल ढाँचे में ढालने की शक्ति से, लेखक ने दृश्यों के सजीव चित्र खींच दिये हैं। प्रारंभिक गद्य लेखक की भाषा में इतनी अभिव्यंजनात्मकता होना असाधारण बात है। इंशा की प्रतिभा और मेधा शक्ति ही इस कार्य में सफल हो सकती थी। इन शब्द-चित्रों में शब्दों का चयन ही विशेष महत्त्व पूर्ण विषय है। उन शब्दों को वहाँ से निकाल दीजिए तो लेखक का खड़ा किया हुआ प्रासाद ताश के महल की भाँति गिर पड़ेगा। साथ ही शब्दों की सरसता पर ध्यान देना भी आवश्यक है। जैसे 'चप्पा चप्पा कहीं ऐसा न रहे जहाँ भीड़ भड़क्का धूम धड़क्का न हो जाय।' 'डोमनियों के रूप में सारंगियाँ छेड़-छेड़ सोहैली गाओ। दोनों हाथ हिला के उँगलियाँ नचाओ। जो किसी ने न सुनी हो, वह ताव-भाव, वह चाव दिखाओ; ठुड्डियाँ गुनगुनाओ, नाक भवें तान तान भाव बताओ; कोई छूट कर रह

न जाओ।' 'उन सभी पर खचाखच कुंजनियाँ, रामजनियाँ, डोमनियाँ भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती गाती, बजाती, कूदती, फाँदती धूमें मचातियाँ, अँगड़ातियाँ जम्हातियाँ, उँगलियाँ नचातियाँ ढुली पड़तियाँ थीं।' 'हमें ऐसी क्या पड़ी जो इस घड़ी ऐसी झेल कर रेल पेल ऐसी उठें और तेल फुलेल भरी हुई उनके झाँकने को जा खड़ी हों।' आदि

जहाँ लेखक ऐसा नहीं कर सका है वहाँ उपमा आदि की सहायता लेकर उसने किसी चित्र को पाठकों के सम्मुख खोल कर रख दिया है, जैसे हाय रे उनके उभार के दिनों का सुहानापन, चाल ढाल का अच्छन बच्छन. उठती हुई कोंपल की कली पहने ; जैसे बड़े तड़के धुँधले के हरे भरे पहाड़ों की गोद से सूरज की किरनें निकल आती हैं।'

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि इंशा के गद्य में गांभीर्य कहीं भी न मिलेगा। उनकी इस फुदकती हुई शैली में हास्यरस ओत प्रोत मिलता है। परंतु उनका हास्य किसी राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक विषय पर न होकर शुद्ध अवैयक्तिक ढंग का है। समाज की रूढ़ियों या प्रचलित रीतियों का मज़ाक न बना कर वे स्वयं अपनी किसी बात को इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर उसमें ऐसा अपरिचित, अद्भुत असाधारण वातावरण उत्पन्न कर देते है कि हम बिना हँसे नहीं रह सकते। कहानी के आरंभ में ही हम जब उन्हें नाक रगड़ते हुए ईश्वर को सिर झुकाते देखते हैं तो हँसी आ जाती है। कुओं में खँडसालों की खँडसाल उड़ेल कर उनका पानी मीठा करना, जोगी महेन्द्र गिरि के नाना दृश्य दिखाना और लेखक की वर्णन शैली, ये सब हममें हास्य उत्पन्न करती हैं। अकेले बैठे हमें जब ये बातें याद आती हैं तो हम फिर हँस देते हैं। इंशा के हास्य का ऐसा ही स्थायी प्रभाव पड़ता है।

मुहावरों द्वारा प्रेरित हास्य का और भी स्थायी प्रभाव है। यहाँ इंशा की दोहरी शक्ति काम करती है। उदयभान अमराइयों में स्थान ढूँढ़ता हुआ रमणियों से आज्ञा लेता हुआ कहता है—'मैं सारे दिन' का थका हुआ एक पेड़ की छाँव में ओस का बचाव करके पड़ रहूँगा। बड़े तड़के धुन्धलके में उठकर जिधर को मुँह पड़ेगा चला जाऊँगा।' 'जिधर को मुँह पड़ेगा' मुहावरे के प्रयोग से हास्य और भी तीव्र हो गया है।

लेखक ने स्थान-स्थान पर भावों को तीव्र करने के लिये अथवा किसी वातावरण का व्यापक प्रभाव डालने के लिये गद्य के बीच-बीच पद्य दिये हैं। उन पद्यों में काव्य का विशेष चमत्कार नहीं है। वस्तु का सीधा वर्णन छंदोंबद्ध मिलता है। जैसे,

रानी को बहुत सी बेकली थी।
कब सूझती कुछ बुरी भली थी॥
चुपके के चुपके कराहती थी।
जीना अपना न चाहती थी॥

इन पद्यों में लेखक ने उर्दू कवि होने के कारण मुहावरों का प्रयोग भी किया है। कहीं-कहीं गद्य में कही गई एक बात वे फिर पद्य में कह डालते हैं। जैसे, गद्य में वे कहते हैं—'गले लग के ऐसी रोइयाँ जो पहाड़ों में कूक सी पड़ गई।' फिर पद्य में—

छा गई ठंडी साँस झाड़ों में।
पड़ गई कूक सी पहाड़ों में॥

कहानी के आरंभ और अन्त भी पद्य में हैं। आरंभ में लेखक ने कहानी की भाषा के विषय में लिखा है और अन्त में रानी केतकी और उदयभान के प्रेम के विषय में। आरंभ में कहानी की भाषा की प्रकृति के विषय में कहते हैं—

यह वह कहानी है कि जिसमें हिंदी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

इन पद्यों के विषय में यह ध्यान रखने योग्य है कि वे सब उर्दू के वातावरण से वेष्टित हैं। उर्दू की तरह कुदक-कुदक कर चलते हैं। इंशा उर्दू के कवि थे, इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अत में, इंशा के गद्य को पढ़कर हम उनके जीवन और चरित्र को पढ़ सकते हैं। हम लेखक की ओर आकृष्ट होते हैं और शीघ्र ही उसके अंतरतम में पैठ जाते हैं। उनके गद्य में घनिष्ठता है; वह कुतूहल-वर्द्धक है। 'शैली ही मनुष्य है', इस उक्ति का अर्थ इंशा के गद्य में पूर्ण रूप से होता है।

जब हम रानी केतकी की कहानी पढ़ते हैं तो हमें लेखक के भिन्न-भिन्न विषय के ज्ञान के विषय में परिचय प्राप्त होता है और वास्तव में किसी भी लेखक को भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है। तभी वह सफल लेखक बन सकता है; उसी समय वह अपने पाठकों से घनिष्टता प्राप्त कर सकता है। कहानी का रचयिता यह जानता है कि किस प्रकार वेश्याएँ अपने हाव भाव प्रकट करती हैं, कितने प्रकार की नावें होती हैं, राग-रागनियाँ कितने प्रकार की होती हैं। फूलों और स्त्रियों के शृंगार की वस्तुओं के नाम से वह परिचित है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इंशा साहब

मुसलमान होकर भी हिंदुओं की पौराणिक कथाओं का ज्ञान रखते थे। उन्होंने पृ० ३५ पर 'मच्छ, कच्छ वाराह', 'परसुराम', 'हरनाकुस', 'राम लछमन सीता', 'कन्हैया' और उनका अष्टमी को जन्म लेना, गोकुल, राधा, मुरली, गोपी, कुंज, 'बंसीबट', 'बृंदाबन', वासुदेव, द्वारका, 'ऊधो' आदि पौराणिक नामों का उल्लेख किया है। राजा 'इन्दर' और जोगी ऐंद्रजालिक के रूप में आये हैं। 'ऐरावत हाती' भी झूलता हुआ चला आता है। 'भरथरी का स्वाँग हुआ मुछंदर नाथ भागें'। हिंदुओं की विवाह-रीतियों का भी उन्हें ज्ञान था, यह कहानी के अंतिम अंश से ज्ञात होता है। सच बात तो यह है कि इंशा की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी।

सदल मिश्र, लल्लूलाल और इंशा की तुलना और इनमें से किसका स्थान उच्च है, इस पर विचार यहाँ नहीं किया जायगा। परंतु तात्कालिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ऐसी सुबोध सजीव और रोचक भाषा में कहानी लिखकर, इंशा ने एक सुंदर गद्य-प्रणाली की नींव डाली मुसलमानी दरबार का आश्रय पाकर उन्होंने गद्य का वह रूप सामने रक्खा जो उन्हें उनके समसामयिकों, लल्लूलाल और सदल मिश्र, से अधिक उच्च आसन दिलाता है। उनकी कृति 'हिंदी गद्य की विकास-लड़ी की एक सुंदर और चमकती हुई कड़ी है।' अतः हिंदी गद्य के ऐतिहासिक विकास में इंशा का विशेष स्थान है।

सदल मिश्र

अंगरेज़ी राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर शासकों को देश की भाषा सीखने की दृष्टि से गद्य की पुस्तकों की आवश्यकता हुई। उर्दू और हिंदी दोनों ही के गद्य की उन्हें आवश्यकता हुई। इसलिए जब सन् १८०३ में गिलक्राइस्ट ने भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तो उसके लिये हिन्दू मुसलमान विद्वान् कालिज में बुलाये गये और उनको गद्य-पुस्तकें तैयार करने का भार सौंपा गया। हिन्दी गद्य की पुस्तकें तैयार करने के लिये लल्लूलाल और सदल मिश्र को कालिज में आश्रय मिला। हिन्दी गद्य साहित्य की रचना करने में सैयद इंशा अल्लाह, लल्लूलाल और सदल मिश्र का बड़ा भारी हाथ रहा। इंशा कालिज के बाहर रह कर कार्य करते थे। जहाँ एक ओर इंशा बैठे बैठे अपने घोड़े की लगाम ढीली कर रहे थे उधर दूसरी ओर दो पंडित कालिज के अधिकारियों के आश्रय में कार्य कर रहे थे।

सदल मिश्र बिहार के रहने वाले थे। कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज में नौकरी करते थे। इन्होंने अपना 'नासिकेतोपाख्यान' सन १८०३ में बनाया क्योंकि 'देववाणी' से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया। 'महाप्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज' को मिश्रजी ने आशीर्वाद देकर अपने ग्रन्थ का श्रीगणेश किया।

'नासिकेतोपाख्यान' संस्कृत में वर्णित नचिकेत की कथा के आधार पर है। यह कथा यजुर्वेद के आधार पर कठोपनिषद में वर्णित है। अन्तर केवल यही है कि कठोपनिषद में ब्रह्मज्ञान को अधिक प्राधान्य दिया गया है और इसमें पापों और घटनाओं को। सदल मिश्र ने उसे घटनात्मक रूप अधिक दे दिया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

वैशंपायन मुनि राजा जनमेजय से कहते हैं कि ब्रह्मा के पुत्र उद्दालक मुनि थे 'कि जिनका तपस्या ही धन था'। उनके सुहावने आश्रम पर एक

एक दिन पिप्पलाद मुनि आ पहुँचे। उन्होंने उद्दालक मुनि के तप को बिना भाया और पुत्र के व्यर्थ बताया। उद्दालक मुनि बड़े फेर में पड़े कि जब हम बुड्ढे हो गये हैं और सब बाल सफ़ेद हो गये हैं, हमें अपनी कन्या कौन दे देगा। व्याकुल होकर वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने उनसे एक योग्य पुत्र होने और पीछे इक्ष्वाकु कुल की महासुंदरी कन्या से विवाह होने का आशीर्वाद दिया। उद्दालक चकित होकर लौट आये और 'एक दिन इसी ध्यान में थे कि बीज पतन हो गया।' उन्होंने उसे कमल में रख कुश से बाँध कर गंगा में बहा दिया जो बहता हुआ राजा रघु की पुरी के सामने आ पहुँचा।'

एक दिन जब राजा की कन्या चन्द्रावती अपनी सहेलियों के साथ गंगा-तट पर पहुँची तो उसने देखा कि 'एक कमल का फूल सोने का सा बनाया, महा सुगंध, कुश से लपेटा हुआ सन्मुख बहा चला जा रहा है।' उसने एक सखी से उसे ला देने को कहा। सुनते ही सखी ने लाकर राजपुत्री के हाथ में उस कमल को रख दिया। राजकुमारी जब उसे सूँघने लगी तो वह 'बीज नाक के मार्ग से उसके पेट में चला गया। कालांतर में राजकुमारी को गर्भ रह गया। उसके माता-पिता को उसके गर्भ का पता चला तो उनके पछतावे की कोई हद न रही। राजा ने क्रोध में आकर चन्द्रावती को देश निकाला दे दिया। वह ऋषियों के पवित्र तपोवन में जाकर अपने जीवन को व्यतीत करने लगी। थोड़े समय के पश्चात उसके एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। वह पुत्र नाक से जन्मा था इसलिए उसका नाम नासिकेत रक्खा गया। उस पुत्र के जन्म से जब उसकी ऋषियों की सेवा में विघ्न पड़ने लगा तो उसने 'एक घास के बोझे पर रख के उसे गंगा में बहा, आप जा मुनियों को हर्षित हो फिर सेवने लगी कि जिससे थोड़े ही दिन में ज्ञान विज्ञान को पहुँची।

वह बालक बहता हुआ चला और स्नान करते हुए उद्दालक ऋषि के समीप जा पहुँचा। उद्दालक उस लड़के को वेद मंत्र से नहला कर गोद में उठाकर बाहर लाये और उसका यथोचित रूप से पालन-पोषण करने लगे। पितामह ब्रह्मा का पहला वाक्य सत्य हुआ।

उधर चन्द्रावती पुत्र-वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह उद्दालक ऋषि के आश्रम पर जा पहुँची। एक दिन युग

*इस शब्द का प्रयोग पहले पहल सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान और लल्लू लाल के प्रेमसागर में मिलता है।

द्वारा अपनी माता की कथा सुनकर वे अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए और कहने लगे कि 'बड़ों का कहना क्या कबही झूठ होता है।'

ऐसा कह वे राजा रघु के यहाँ पहुँचे और उनकी कन्या की याचना की। राजा ने समस्त कथा सुनकर प्रसन्न हो कन्या ऋषि को सौंप दी। उसके पश्चात् उद्दालक नासिकेत सहित भार्या को लेकर आश्रम लौट गये।

एक दिन उद्दालक ने नासिकेत को अग्निहोत्र के लिये कन्द मूल आदि लेने भेजा। बन के प्राकृतिक सौंदर्य में हर्षित हो नासिकेत वहाँ शिव-पूजा करने लगे और समाधि लगा कर बैठ गये। सौ वर्ष उन्होंने वहाँ व्यतीत किये। बाद में कन्द मूल फल आदि लेकर पिता के पास लौटे।

वहाँ पिता पुत्र में कुछ वाद-विवाद हुआ। पिता ने क्रुद्ध होकर पुत्र को श्राप दिया कि अभी तुम यमलोक सिधारो। नासिकेत पहले तो उस 'डरावने' श्राप से काँपने लगे, परन्तु योग के बल से वे धीरे धीरे यम के निकट चल खड़े हुए।

अब 'पाँव पकड़ महतारी रोने कलपने लगी। यह देखकर उद्दालक ने नासिकेत को वापिस बुलाना चाहा। परन्तु नासिकेत मातापिता को समझा कर शिव आदि का जाप करते हुए यमलोक में 'जहाँ अग्नि आदि अनेक ऋषि लोग अपनी अपनी पोथी खोल न्याय विचार यमराजा से कहते थे, जा पहुँचे।'

तत्पश्चात् धर्मराज से वर पाकर नासिकेत अपने माता-पिता के समीप लौट आये। माता-पिता तथा समस्त आश्रम वासियों को उन्हें देख कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई और वे उनसे यमलोक के विषय में पूछने लगे। तब नासिकेत ने उनको यमलोक के विषय में सब कुछ बतलाया। उन्होंने बतलाया कि धर्मराज की पुरी कैसी है, यमदूत कैसे हैं, वैतरणी नदी कैसी है, वहाँ कैसे भोग भोगने पड़ते हैं, किस कर्म से यम की कोपाग्नि में भस्म होना पड़ता है, किस प्रकार के वहाँ दंड दिये जाते हैं, कौन-कौन मुनि वहाँ रहते हैं आदि। 'नासिकेत जब यह कह चुके तब ऋषि लोग सुनके बहुत चकित भए औ बार बार प्रणाम स्तुति कर उनसे विदा हो अपने अपने आश्रम पर जा परलोक में सुख पाने को और भी तप से अधिक तप पूजा ध्यान करने लगे।'

कथा-वस्तु की दृष्टि से हम नासिकेतोपाख्यान को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, नासिकेत की उत्पत्ति और द्वितीय नासिकेत की

यमलोक यात्रा। पहले भाग में हम कुतूहल-वर्द्धक और मनोरंजक सामग्री पाते हैं। उसमें कहानी कला के आवश्यक तत्व सन्निहित हैं। लौकिक वातावरण उनकी विशेषता है। दूसरा भाग सम्पूर्ण रूप से वर्णनात्मक है और उसमें आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा दी गई है। उसमें लोक-शिक्षा की भी यथेष्ठ सामग्री है। यह कथा वैशम्पायन और जनमेजय के संवाद रूप में वर्णित है। यह कोई नई बात नहीं है। हमारा कथा-साहित्य, रामायण, प्रेमसागर आदि संवादों के रूप में ही वर्णित है। परन्तु इस कथा का धार्मिक महत्व कुछ भी नहीं है। सम्भव है तत्कालीन धर्म परायण जनता में इसका आदर रहा हो। इस कथा की यह विशेषता है कि नीरस और गम्भीर बातें बड़े ही मनोरंजक रूप में समझाई गई हैं। जो कुछ भी हो यह उपाख्यान भाषा की दृष्टि से लिखा गया था, न की धार्मिक दृष्टि से।

सदल मिश्र की भाषा पर विचार करते समय हमको यह न भूल जाना चाहिए कि मिश्रजी आरा (बिहार) के रहने वाले थे। इंशा अल्लाह, सदल मिश्र और लल्लूलाल समकालीन थे। परन्तु उनमें से प्रत्येक की जन्म भूमि ने उनकी भाषा पर क्या प्रभाव डाला है, यह कभी दृष्टि से ओझल न होना चाहिए। सदल मिश्र बिहारी थे, इसलिए उनकी भाषा पर बिहारी का प्रभाव पड़ा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं:—

'···हंस सारस चक्रवाक आदि पक्षी भी तीर तीर सोहावन शब्द बोलते, आस पास के गाछों पर कुहूँ कुहूँ कोकिलैं कुहुक रहे थे, जैसे वसंत ऋतु का घर ही होय।' इस उद्धरण में 'गाछों' शब्द बिहारी का है।

बिहारी दो भाषाओं से अधिक प्रभावित हुई है। प्रथम, बँगला से। मिश्र जी की भाषा पर बँगला का प्रभाव है, यद्यपि वह अधिक नहीं है। उपर्युक्त शब्द 'गाछों' बँगला में भी प्रयुक्त होता है। एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—'दूर ही से उसका रोना सुनके अति व्याकुल होने लगे सोच करने कि यह तो अनाथ स्त्री कोई काँदती है, इस महावन में कहाँ से आगई?' इसमें 'कादती' शब्द बँगला का है।

मुसलमानी राजत्वकाल में बिहार में पटना, मुर्शिदाबाद आदि में मुसलमानों का अधिक हाथ होने से वहाँ की भाषा (बिहारी) पर उर्दू का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें मिश्र जी की भाषा में मिलता है। और भाषाओं की अपेक्षा उर्दू का ही उनकी भाषा पर विशेष प्रभाव पड़ा है। हमें उनके गद्य में उर्दू के मुहावरे, वाक्यावली आदि की

ओर विशेष ध्यान दिया गया प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, 'राजा रघु ने चन्द्रावती को लड़कई से आज तक सुग्गा सा पढ़ाया, वो वैसा ही मानते रहे हैं', 'तब तुरन्त ही हर्ष से दूने हो वही लड़के को गोदी में उठा लिया और वेदमंत्र से नहलाय बाहर आये; 'सुनते ही वह आग हो गये' आदि में 'सुग्गा सा पढ़ाया', 'हर्ष से दूने हो', 'आग हो गये' मुहावरे उर्दूपन लिये हुए हैं। इनसे उनकी भाषा में सजीवता आगई है। दूसरे ये अपने गद्य में 'कि' 'वो' (और के स्थान पर), का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ '...वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य की बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहते कि...।" साथ ही ये विभक्तियों के रूप में 'सा' और 'सारी' का प्रयोग भी करते हैं जैसे 'बहुत सा' 'बहुत सारी' आदि ये सब बातें उर्दू की भाषा के ढंग पर अधिक हैं। अनेक स्थलों पर उनके वाक्य और भाषा उर्दू के साँचे में ढली हुई है। उन्होंने वहाँ पर उर्दू और हिन्दी में कोई भेद नहीं रखा। उनके गद्य में 'निपट आश्चर्य मुझको लगा कि', 'देखने को मैं आया हूँ कि', 'उठ कर बैठी और लगी सोचने', 'फिर लगी कहने', 'हाथ जोड़ लगे स्तुति करने' आदि उर्दू के ढंग के वाक्य भरे पड़े हैं। सदल अपने सम्मुख भाषा का कोई आदर्श रख कर नहीं चले थे। वे किसी बोली की 'छुट पुट' में नहीं पड़े थे। इसीलिये उपर्युक्त उर्दू की ढंग की बातों के अतिरिक्त हमें उर्दू शब्दों का भी कभी-कभी प्रयोग मिल जाते हैं।

आरा ब्रजभाषा के प्रभाव में न आ सका। इसीलिये सदल मिश्र की भाषा में ब्रज का वह माधुर्य न आ सका जो लल्लूलाल के गद्य में मिलता है। इस दृष्टि से इनकी भाषा लल्लूलाल की भाषा से निम्न कोटि की है। जहाँ तक भाषा की प्रौढ़ता का विचार है वहाँ तक सदल मिश्र की भाषा ही श्रेष्ठ है। सदल मिश्र ने अपनी भाषा खड़ी बोली रखी। उन्होंने अपने सम्मुख भाषा का कोई विशेष आदर्श न रखा था। उन्होंने स्वतंत्र रीति की गद्य की परिपाटी स्थित करनी चाही। जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली के प्रयोग करने का ही प्रयत्न किया है; परंतु ब्रजभाषा का, जो उस समय साहित्यिक भाषा थी, प्रभाव नहीं बचा सके। ब्रजभाषा के कुछ प्रयोग तो शुद्ध हैं, परन्तु कुछ आरा की भाषा से मिल कर दूसरे रूप में ही परिवर्तित हो गये हैं। "फूलन्ह के बिछौने ', 'चहुँदिस', 'सुनि', 'सोनन्ह', 'साँची', 'होय' 'आय' आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। 'आवते', 'जावते', 'पुरावते', आदि परिवर्तित रूप हैं। ब्रजभाषा का उनके गद्य में आजाने के दो कारण

है। प्रथम वे लल्लूलाल के संपर्क में रहे। दोनों ही फोर्ट विलियम कालिज में थे। (२) ब्रजभाषा तत्कालीन साहित्यिक भाषा थी जिससे खड़ी बोली अवश्य प्रभावित हुई थी। उन्होंने भाषा को संकीर्ण बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया था।

सदल मिश्र के पूर्वज संस्कृत के बड़े भारी पंडित थे। वे स्वयं संस्कृत के विद्वान थे। इसलिए वे अपनी भाषा में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग भी नहीं बचा सके।

सदल मिश्र की भाषा में पूरबी शब्दों का प्रयोग भी बाहुल्य के साथ है। 'स्मरण किए से', 'इहाँ', 'मतारी', 'बरते थे', 'जुड़ाई', 'बाजने लगा', 'जौन जौन', 'किए से', 'दिए से', आदि पूरबी शब्द हैं। इसके भी कारण हैं। मिश्र जी ने अवधी साहित्य का अध्ययन अवश्य किया होगा। दूसरे पूरबी भाषा-भाषी प्रान्त और बिहार में सामीप्य होने के कारण कुछ शब्द संभव हैं इधर से उधर चले गये हों। इस प्रकार का आदान-प्रदान भाषाओं में कुछ असंभव बात नहीं है। और वैसे भी उस काल में लोग पूर्व की ओर फैलते जा रहे थे, यदि उन्हीं के संपर्क में आने से पूरबी भाषा का प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इनकी सकर्मक क्रियाओं ने इनकी भाषा में कुछ-कुछ पंडिताऊपन भी ला दिया। वे सकर्मक क्रियाओं के साथ 'को को' लगा देते हैं, जैसे 'सुख को पाते हैं दुख को सहते हैं', 'बात को सुनते हैं, पीड़ा को सहते हैं, आदि। पंडिताऊपन एक और प्रकार से भी इनकी भाषा में आ गया है। 'सोई और फिर' 'है का है' लगा कर उन्होंने कई स्थलों पर वाक्य बनाये हैं। ऐसे वाक्यों में गलियों में कथा कहने वाले पंडितों की भाषा का आभास मिलता है। यह अवश्य है कि ऐसे प्रयोग उस समय की गद्य-परिस्थिति में ग्राम्य न समझी जाती थी।

अंत में भाषा के विषय में हम यह कह सकते हैं कि इनकी भाषा बिल्कुल साफ़ सुथरी न होते हुए भी गठीली है। उसमें लल्लूलाल की भाषा की तरह लचरपन नहीं है। उनके गद्य में गद्य का आनंद आता है। भाषा में तोड़ मरोड़ नहीं है, वाग्जाल नहीं है।

मिश्र जी के शैली पर विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि उनकी शैली सरल तथा सुबोध है। उसमें क्लिष्टता तो नाममात्र को भी नहीं है। वे छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा अपने भावों को प्रकट करते हैं। लल्लूलाल की भांति लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग करने का उन्हें शौक़

नहीं है। दूसरी बात यह है कि इनकी शैली में अनुप्रास और तुकान्त वाली भाषा का प्रयोग नहीं हुआ। इसका स्पष्ट कारण यही है कि सदल मिश्र कवि नहीं थे। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि इन्होंने मुहावरों के बड़े सुन्दर प्रयोग किये हैं। साथ ही उन्होंने शब्दों का दुहरा प्रयोग किया है, जैसे 'हित मीत', 'काना', 'कानी', 'बुहार सुहार', 'उथल पुथल', 'रोने कलपने', 'फूलो फलो' आदि।

व्याकरण के सम्बन्ध में इनकी बहुत भूलें मिलती हैं। 'विनती किया', 'सौ बरस दिन उनको वहाँ बीत गया', 'भुठाने नहीं सकता हूँ, 'सब ऋषि लोग अच्छा अच्छा वस्त्र व भूषण पहिरे', आदि। इसका कारण यह था कि उस समय तक व्याकरण के नियम बने ही न थे। इससे वचन, संज्ञा आदि के विषय में शिथिलता आ जाती थी।

उर्दू की शब्द योजना इनमें बहुत मिलती है। इस विषय में वे इंशा की ओर अधिक भुक जाते हैं। 'देखने को मैं आया हूँ', 'निपट आश्चर्य मुझको लगा', 'द्वीप दानियों को पार होता है सहज में', 'पापी सब हैं अटकते' आदि।

कहीं कहीं पर क्रिया पदों का स्वतंत्र निर्माण भी इन्होंने किया है, जैसे 'अभिलाषा को पुरावेंगे', 'इतों की बतकही' आदि।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गद्य को आधुनिक स्वरूप देने में मिश्र जी का बहुत हाथ है। वास्तव में मिश्र जी बड़े प्रज्ञाबुद्धि थे वे ताड़ गये थे कि आखिर एक समय आवेगा जब कि गद्य और पद्य की भाषा एक होगी और ब्रजभाषा का साम्राज्य छिन्न भिन्न हो जायगा। यही कारण है कि उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा खड़ी बोली—मिश्रित और मुहावरेदार—रखी। THIS, THOUGH PLACES A LITTLE ARCHAIC IN MANNER, IS AFTER ALL VERY MUCH OUR OWN WAY OF WRITING. यह सदल की प्रतिभा और दूरदर्शिता का परिणाम है। और इसी कारण उनका प्रारंभिक गद्य-निर्माताओं में उच्च स्थान है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी में बाइबिल

युरोप में ईसाइयों के अभ्युदय के बाद धर्म-प्रचार के लिये ईसाई मतावलम्बियों ने अति प्राचीनकाल में भारतवर्ष की भूमि पर पैर रखा। कुछ लोग तो ईसाई सम्प्रदाय और बौद्ध, जैन तथा अन्य भारतीय मतों के पारस्परिक सम्बन्ध और धर्म-चर्चा का उल्लेख भी करते हैं। ईसा के प्रधान शिष्यों ने जो विभिन्न समाज स्थापित किये, परवर्ती काल में वे ही समाज ईसाई-धर्मावलम्बियों के महापुण्य और भक्ति के पात्र बने। उसी समय पश्चिम में रोम और पूर्व में अन्तियोक ईसाई समाज के प्रधान केन्द्र समझे गये। और इसी उत्तरकाल में अकेले ईसाई धर्म मत ने नाना स्वरूप ग्रहण किये, जैसे रोमन कैथोलिक, सिरीयक, याक़ूबी, नेस्टोरी, अर्मनी, ग्रीक, प्रोटेस्टैण्ट, जेसुइट आदि।

ईसाई धर्म-प्रचारक भारतवर्ष में सबसे पहले कब आये, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ सज्जनों का मत है कि ईसा के अन्यतम शिष्य सेंट टामस अरब, ईरान आदि स्थानों में धर्म का प्रचार करते हुए ६५ ई० में धर्म-प्रचारार्थ भारतवर्ष आये। उन्हीं ने यहाँ सिरीयक सम्प्रदाय की स्थापना की। सिरीयक मतावलम्बी पोप की अधीनता नहीं मानते। उनका बाइबिल भी सिरीयक भाषा में है। दक्षिण के मालाबार तट के लोगों में सेंट टॉमस का बहुत आदर था। कुछ लोग तो उन्हें धर्म-पिता और स्वयं ईसा मसीह समझते थे। इसके अतिरिक्त कुछ सज्जनों का मत है कि सेंट टॉमस ही ६८ ई० की २१ वीं दिसम्बर को मद्रास के पार्श्ववर्ती माइलापुर नामक स्थान में उतरे थे। कोई कहते हैं एक टॉमस मनिकीय ने ईसा की तीसरी शताब्दी में भारत पहुँच कर एक अभिनव ईसाई-धर्म चलाया था। दक्षिण के टॉमस इन्हीं के शिष्य थे। कुछ लोगों का यह भी मत है कि टॉमस नामक एक अर्मनी वणिक

ईसा की आठवीं शताब्दी में मालाबार में वाणिज्य करने आये थे। वहाँ उन्होंने दो केरल रमणियों से विवाह कर ईसाई-धर्म का प्रचार किया और स्वयं धर्माचार्य बने। उसी समय से वहाँ के ईसाई अपने को टामस का शिष्य बताने लगे।

अस्तु, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन तीनों टामसों में से कौन सबसे पहले भारतवर्ष आया। इनके भारतागमन की कहानी रोचक है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन टामसों के आने से पूर्व भी ईसाई-धर्म भारतवर्ष में घुस आया था। एक लेखक का मत है कि ईसा मसीह के बारह प्रधान शिष्यों में से सेंट बार्थलमेउ (Bartholomew) ईसा की तीसरी शताब्दी में धर्म-प्रचार के लिये भारतवर्ष आये थे। उनके बाद सेंट टामस आये थे। कहा जाता है कि छठी शताब्दी में भी कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक मालाबार तट पर उतरे थे। लेकिन उनमें किसी टामस के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ भी हो इतना निश्चित है कि सिरीयक ईसाई धर्म-प्रचारक सबसे पहले भारतवर्ष आये थे। सन् १८०६ ई० में जब डा० ब्यूकैनैन मालाबार गये थे तो वे वहाँ से अपने साथ सिरीयक भाषा में लिखा हुआ एक बाइबिल लाये थे। यह बाइबिल, जो आज कल केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में है, बारहवीं शताब्दी के लगभग का समझा जाता है। यह बाइबिल भारतवर्ष कैसे आया, इस विषय में अभी तक कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं हो सका। भाषाविदों का मत है कि इसकी रचना छठीं शताब्दी के बाद और बारहवीं शताब्दी से पूर्व हुई होगी। सिरीयक भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण तत्कालीन भारतीय ईसाइयों में इस बाइबिल का अधिक प्रचार नहीं था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में जब ईसाई धर्म-प्रचार-आन्दोलन भारतवर्ष में जोरों के साथ फैला, उस समय इस बाइबिल ने धर्म-प्रचारकों को अत्यन्त प्रोत्साहन दिया।

इसके बाद रोमन कैथोलिक भारतवर्ष आये। ईसा की बारहवीं और चौदहवीं शताब्दियों के बीच में रोमाधिपति पोप के प्रबल प्रताप से समस्त युरोप में कैथोलिक धर्म फैल गया था। कैथोलिक धर्म से ही जेसुइट सम्प्रदाय का जन्म हुआ। स्पेन-निवासी इग्नेसिया लोयोला (Ignatius Loyala) ने इस समाज की स्थापना कर पोप से सनद प्राप्त की थी। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में जो कैथोलिक यहाँ आये, उनमें अधिकतर पोर्चुगीज थे। परन्तु उन्होंने क्रास और तलवार के मेल से घोर अत्याचार और दुर्व्यवहार किया और ईसाइयत के नाम पर सैकड़ों निरीह निरपराध व्यक्तियों का खून बहाया। उस समय पोर्चुगीज अधिकृत गोआ प्रभृति स्थानों में निर्विवाद ईसाई-धर्म का प्रचार हुआ।

पुर्तगाल के राजा एमानुएल और उसके पुत्र जोन ने भारतवासियों को ईसाई-धर्म में दीक्षित कराने का अथक उद्योग किया। सन् १५४२ ई० में सट जेवियर नामक जेसुइट ने मालाबार, मदुरा, मद्रास आदि स्थानों के अनेक असभ्यों और कैवर्तों को दीक्षा दी। दक्षिण के लोग उन पर भक्ति और श्रद्धा रखते थे। भारतवर्ष ही में नहीं, उन्होंने हिन्द-महासागर के द्वीप-समूह और जापान तक में ईसाई धर्म का डंका बजाया। अन्त में चीन में जाकर सन् १५५२ ई० की बाईसवीं दिसम्बर को नाङ्किन में वे काल-कवलित हुए। इनके बाद सन् १६०६ ई० में इटली के रॉबर्ट डि नोबिली मद्रास में आये। परन्तु भारतवासी उन्हें म्लेच्छ समझकर उनकी बात न सुनते थे। यह देखकर उन्होंने भारतीय आचार-व्यवहार ग्रहण किये और अपने को रोमक ब्राह्मण के नाम से पुकारने लगे। भारतीय संन्यासी के वेष में उन्होंने संस्कृत और तामिल भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ दिन बाद उनका तत्वबोध स्वामी नाम पड़ गया था। उन्होंने तामिल में 'आत्मनिर्णयविवेक' और 'पुनर्जन्मविवेक' नामक दो ग्रन्थ लिखकर पौराणिक मत का खण्डन करते हुए हिन्दू धर्म पर आक्रमण किया। अपने शेष जीवन में वे हिन्दुओं को ईसाई धर्म की दीक्षा देते रहे। इनके बाद और भी अनेक जेसुइट भारतवर्ष आये। आगे भी यह क्रम चलता रहा। अपने प्रयत्न से इन लोगों ने मदुरा, त्रिचनापली, तंजोर, सलेभ, मद्रास आदि स्थानों में नीच लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी अपनी भाषा-विषयक धार्मिक कट्टरता की वजह से रोमन कैथोलिक एक बाइबिल और उसका प्रतिपादन करनेवाले चर्च के प्रति उदासीन रहे। कहा जाता है, कुछ लोगों ने तो भारत में बाइबिल-प्रचार का प्रबल विरोध भी किया। यही कारण है कि रोमन कैथोलिक किसी भी भारतीय भाषा में बाइबिल का अनुवाद न कर सके। उन्होंने प्रधानतः तामिल प्रदेश में कार्य किया और इसमें सन्देह नहीं कि वे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने उस प्रदेश की भाषा में प्रचुर मात्रा में ईसाई-साहित्य की रचना की। परन्तु बाइबिल की ओर उन्होंने कोई ध्यान न दिया। एक व्यक्ति ने तो 'असुरवेद' नामक ग्रन्थ की रचना कर सगर्व अपने को ब्राह्मण कहला कर ईसा मसीह के धर्म का प्रचार किया। तामिल बाइबिल का रोमन कैथोलिक रूपान्तर बहुत प्राचीन नहीं है।

प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदाय का जन्म सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। पोप के अत्याचार से धार्मिक ईसाई-मात्र विरक्त हो उठे थे। इस अत्याचार के

कारण बहुत से अपना मुँह बंद न रख सके। सन् १५१७ ई० में मार्टिन लूथर ने समाज के संस्कार पर कमर कसी। कैथोलिक राजाओं ने पोप के आधिपत्य में प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों पर भीषण अत्याचार किये। फ्रांस में चौदहवें लुई के शासनकाल में उसने अत्यन्त उग्र स्वरूप धारण कर लिया था। सैकड़ों प्रोटेस्टैण्ट गुप्त रूप से अपना देश छोड़कर दूसरे राज्यों में जा बसे। सन १७०५ ई० में डेनमार्क के राजा की सहायता से ज़ीगनबाल्ग और प्लुचु नामक लूथर मतावलम्बी भारतवर्ष आये। ज़ीगनबाल्ग महा-पण्डित थे। उन्होंने तामिल में बाइबिल का अनुवाद किया। किसी भी भारतीय भाषा में अनूदित यह सर्वप्रथम बाइबिल है। कहा जाता है कि ज़ीगनबाल्ग की सहायता से शुल्ज़ नामक व्यक्ति ने सन् १७२५ ई० में हिन्दी भाषा में बाइबिल निकाला था। इसके अब अप्राप्य होने के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका 'हिन्दी भाषा' से क्या तात्पर्य था और उसका क्या स्वरूप था। इन प्रोटेस्टैण्ट धर्म-प्रचारकों के प्रयत्न से दक्षिण भारत के प्रमुख-प्रमुख केन्द्रों में मार्टिन लूथर का मत स्थापित हुआ—विशेष रूप से निम्नवर्ग के लोगों में। मुसलमान शासकों के भय सेउन्हें उस समय अधिक सफलता न मिल सकी।

वास्तव में भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद करने या कराने के महत्व को प्रोटेस्टैण्ट धर्म-प्रचारकों ने समझा। उनका विचार था कि एक भारतीय के हाथ में बाइबिल देना उसका सबसे बड़ा हित करना है, क्योंकि बाइबिल ही उसके मोक्ष का साधन है। प्रकाशित बाइबिल के द्वारा 'ईश्वरीय वचन' उस स्थान तक पहुँच सकता है जहाँ मनुष्य की पहुँच नहीं हो सकती, जहाँ किसी वक्ता या उपदेशक की आवश्यकता नहीं और जहाँ एक भारतीय निर्बाध रूप से अपने अन्तरतम के एकान्त और प्रशान्त वातावरण में भगवान से संलाप कर सकता है। यही कारण है कि जितने प्रोटेस्टैण्ट भारतवर्ष आये उन सभी में बाइबिल को भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करनेकी उत्कट इच्छा बनी रहती थी। बड़ी तत्परताके साथ वे भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने में लग जाते थे और शीघ्र ही बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित कर देते थे। उस समय उनका ध्यान भाषा के सङ्गठित, व्यवस्थित और सुघड़ रूप की ओर नहीं जाता था क्योंकि वे जल्दी से जल्दी 'ईश्वरीय शब्द' द्वारा 'पापात्माओं का उद्धार' कर देना चाहते थे। ईसाई महिलाएँ भी शिक्षा के बहाने सम्भ्रान्त व्यक्तियों के घरों में ईसाई मत का प्रचार करने लगीं। कहना न होगा, अनेक भारतवासियों ने अपनी जातीयता खो दी।

इतिहासकारों का मत है कि सन् १८१३ ई० के विल्बरफोर्स ऐक्ट से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य में ईसाई धर्म-प्रचार का कार्य सम्भव नहीं था और न कम्पनी का कोई कर्मचारी धर्म-प्रचार में भाग ले सकता था क्योंकि उन्हें देशीय धर्म पर आघात पहुँचने का भय था और फलत: राज्य में अशान्ति उत्पन्न होने की आशङ्का थी। सिद्धान्त की दृष्टि से उनका यह कथन शायद ठीक है। परन्तु व्यवहार में उनका कथन वास्तविक तथ्यों से दूर हट जाता है, क्योंकि स्वयं कम्पनी सरकार की अध्यक्षता में बाइबिल-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया गया था। फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ-साथ ईसाइयत का प्रचार करना भी मार्किस वेलेजली का ध्येय था। कालेज के प्रोवोस्ट और वाइस प्रोवोस्ट—क्रमश: डेविड ब्राउन और डा० ब्यूकैनैन—प्रसिद्ध ईसाई धर्म-प्रचारक थे। स्वयं कम्पनी के व्यय पर विलियम केरे ने—जो उस समय कालेज में संस्कृत और बँगला के अध्यापक नियुक्त किये गये थे—बाइबिल-प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया था और निश्चित रूप से सरकार ने बाइबिल के मलय भाषानुवाद के लिए कोष से आवश्यक धन की स्वीकृति दी थी। बाइबिल का अनुवाद करने के लिए कालेज में एक अलग विभाग था। इस कार्य के लिए दूर-दूर से पण्डित बुलाये गये थे। सन् १८०५ ई० तक फ़ारसी, हिन्दुस्तानी, पश्चिमी मलय, उड़िया और मराठी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद का कार्य आरम्भ हो गया था। परन्तु कम्पनी के डाइरेक्टरों द्वारा कालेज की बृहत् आयोजना के अस्वीकृत हो जाने के बाद सन् १८०६ ई० में बाइबिल का अनुवाद-कार्य बन्द कर दिया गया। इससे ब्राउन और ब्यूकैनैन बहुत निरुत्साहित हुए।

परन्तु निरुत्साहित होते हुए भी उन्होंने अपनी ओर से धन संचित करने का प्रयत्न किया। सोलह सौ पौण्ड तो उन्हें भारतवर्ष ही में मिल गये थे और एक हज़ार पौण्ड सन् १८०४ ई० में स्थापित ब्रिटिश एण्ड फ़ौरेन बाइबिल सोसायटी ने दिये। यह रुपया 'करस्पौंडिंग कमेटी' को दिया गया जिसकी स्थापना ब्राउन और उनके मित्रों ने सोसायटी के आदेशानुसार की थी। इस करस्पौंडिंग कमेटी ने बाइबिल-अनुवाद का कार्य बड़ी तत्परता के साथ किया। बाइबिल सोसायटी की सहायता के फल-स्वरूप ही कालेज में बाइबिल-अनुवाद का कार्य जारी रखा जा सका। फिर सन् १८११ ई० में कलकत्ता औग्ज़िलियरी बाइबिल सोसाइटी की स्थापना की गई और ब्राउन इसके मन्त्री नियुक्त किये गये। इस औग्ज़िलियरी

सोसायटी का प्रधान उद्देश्य भारतीय ईसाइयों को ईसाई धर्म-ग्रन्थ उपलब्ध कराना था। कालान्तर में 'करस्पौंडिग कमेटी' टूट गई और धर्म-ग्रन्थ के प्रकाशन का भार केवल औग्ज़िलियरी सोसायटी पर आ पड़ा।

दूसरी ओर श्रीरामपुर बाइबिल-प्रचार-कार्य का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। विलियम कैरे सन् १७९३ ई० में भारतवर्ष आये थे। प्रकाश्य रूप में तो कम्पनी-सरकार से उन्हें आश्रय न मिला था, परन्तु अपनी असाधारण तत्परता और सहिष्णुता से उन्होंने अपने (प्रोटेस्टैण्ट) मत का प्रचार किया और मार्शमैन, वार्ड आदि साथियों को लेकर श्रीरामपुर में बापटिस्ट मिशन खोला। बाइबिल का प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय था। फ़ोर्ट विलियम कालेज में नियुक्त हो जाने के बाद कैरे ने धन से भी इस कार्य में सहायता की। इस प्रकार आर्थिक समस्या की ओर से निश्चिन्त हो जाने पर श्रीरामपुर मिशनरियों ने चालीस विभिन्न भाषाओं में धर्म-पुस्तकें प्रकाशित करने की जो बृहत् आयोजना तैयार की वह भारत के मिशनरी इतिहास में अद्वितीय है। सन् १८०१ ई० से लेकर सन् १८३२ ई० तक प्रकाशित धर्म-पुस्तकों के अनुवाद-कार्य का विवरण उनके द्वारा प्रकाशित दस संस्मरणों से मिलता है। हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी का एक रूप), ब्रजभाषा, अवधी, मागधी, उज्जैनी और बघेली बोलियों में भी सन् १८०९ ई० और सन् १८२६ ई० के बीच उन्होंने धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किये। स्वयं कैरे द्वारा सम्पादित और अनूदित धर्म-ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है:—

प्रथम प्रकाशित

सन् १८०९-११ ई० हिन्दी। न्यू टेस्टामेण्ट। ओल्ड टेस्टामेण्ट १८१३-१८ ई० में

,, १८२२-३२ ,,	ब्रजभाषा।	केवल न्यू टेस्टामेण्ट।	
,, १८१५-२२ ,,	कनौजी।	,, ,, ,,	।
,, १८२१ ,,	बघेली।	,, ,, ,,	।
,, १८२३ ,,	उज्जैनी।	,, ,, ,,	।

इस काल में उदयपुरी, जयपुरी, मारवाड़ी, बीकानेरी, कुमायूँनी, गढ़वाली आदि बोलियों में भी धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किये गये।

ब्राउन और श्रीरामपुर मिशनरियों के कार्य में भाषा, अनुवाद इत्यादि सम्बन्धी जो त्रुटियाँ थीं वे हेनरी मार्टिन के अनुवाद में दूर हुईं। सन १७८१ ई० में मार्टिन का जन्म ट्रूरों में हुआ था। शिक्षा समाप्त करने के

बाद उनका इरादा वकालत करने का था। परन्तु चार्ल्स सिमियन, विलियम कैरे और डेविड ब्रेनर्ड के प्रभावान्तर्गत उन्होंने मिशनरी बन कर ईसाई-धर्म की सेवा करना निश्चित किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अध्यक्षता में चैपलेन नियुक्त होकर वे सन् १८०५ ई० में भारतवर्ष के लिए रवाना हुए। यहाँ आकर उन्होंने श्रीरामपुर, दीनापुर और कानपुर में काम किया। सन् १८१२ ई० में फ़ारस में उनकी मृत्यु हुई। वे अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी या उर्दू के पण्डित थे। ईसाई धर्म-प्रचारकों में कैरे के बाद मार्टिन का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। डेविड ब्राउन की इच्छानुसार उन्होंने हिन्दुस्तानी या उर्दू में बाइबिल का अनुवाद करना प्रारम्भ किया और सन १८०६ ई० के लगभग 'ट्रेक्ट्स' का अनुवाद करने में संलग्न थे। इस कार्य में उन्होंने मिर्ज़ा फ़ितरत तथा अन्य मुसलमान मौलवियों और मुंशियों से सहायता ली। मार्टिन के उर्दू अनुवाद की सभी प्रशंसा करते हैं।

प्रस्तुत विषय के लिए भी मार्टिन का नाम कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जैसा कि अभी आगे चलकर मालूम होगा।

बाइबिल का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद फ़ोर्ट विलियम कालेज में संस्कृत अ र हिन्दू धर्मशास्त्र के अध्यापक और कलकत्ता बेंच के प्रधान हेनरी टामस कोलब्रुक ने किया था। प्रथम बार सुसमाचारों का अनुवाद सरकारी व्यय से सन् १८०६ ई० में प्रकाशित हुआ और उसकी ४०० प्रतियाँ मिशनरियों को दी गईं। श्रीरामपुर मिशनरियों का हिन्दी में अनुवाद-कार्य कुछ वर्ष पूर्व शुरू हो गया था। लेकिन उनका अनुवाद सन् १८०७ ई० में समाप्त होकर सन १८११ ई० में प्रकाशित हुआ। यह न्यू-टेस्टामेण्ट था। इसके साथ ओल्ड टेस्टामेण्ट के अंश भी धीरे-धीरे प्रकाशित होते रहते थे। परन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दों के बाहुल्य के कारण उनका यह अनुवाद आगरा और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अग्राह्य हुआ। इसलिए बाप्टिस्ट मिशनरी चैम्बरलेन ने इसे सुधार कर ब्रजभाषा में प्रकाशित किया। उनका यह कार्य सन् १८१४ ई० के लगभग सम्पूर्ण हो गया था।

सन् १८१५ ई० में हेनरी मार्टिन का उर्दू न्यू टेस्टामेण्ट प्रकाशित हो गया था। अत्यन्त प्रसिद्ध अनुवाद होने के कारण सन् १८१७ ई० में यह ग्रन्थ नागराक्षरों में छापा गया। परन्तु लिपि के बदल जाने से भाषा में कोई अन्तर न पड़ सकता था। मार्टिन की उर्दू भाषा बनारस और गाज़ीपुर ज़िलों के निवासियों की समझ में न आती थी। इसलिए कलकत्ता

बाइबिल सोसायटी की अध्यक्षता में चर्च मिशनरी सोसायटी के ऐंग्लो-इंडियन मिशनरी रेवरेण्ड बाउले ने चुनार में मार्टिन की भाषा में से अरबी फ़ारसी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर सन् १८१९ ई० में प्रथम तीन सुसमाचारों को प्रकाशित किया। तत्पश्चात् सन् १८२० ई० में सेंट जॉन नामक सुसमाचार प्रकाशित हुआ। पूरा न्यू टेस्टामेण्ट सन् १८२६ ई० में छापा गया। आठ वर्ष बाद अर्थात् सन १८३४ ई० में सम्पूर्ण ओल्ड टेस्टामेण्ट भी जनता के सामने रखा गया। बाउले महाशय ग्रीक और हेब्रू भाषाओं से अनभिज्ञ थे। इसलिए वे बाइबिल के केवल अँगरेज़ी संस्करण से ही सहायता ले सके।

न्यू टेस्टामेण्ट का एक और अनुवाद सन् १८४८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका अनुवाद करना बाप्टिस्ट मिशनरी विलियम येट्स ने शुरू किया था। परन्तु उनकी अचानक मृत्यु हो जाने के कारण ए० लेस्ली नामक व्यक्ति ने उसे पूर्ण कर बाप्टिस्ट प्रेस से प्रकाशित किया। सन् १८६८ ई० में जॉन पारसंस और जान क्रिश्चियन द्वारा इसका संशोधित संस्करण निकाला गया।

इसी बीच में नार्थ इण्डिया औग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी की सन् १८४५ ई० में आगरा में स्थापना हो चुकी थी। इस सोसायटी ने तुरन्त ही चर्च मिशनरी सोसायटी, बनारस के एफ़० ई० श्नाइडर के सम्पादकत्व में एक संशोधन-समिति नियत की। इस समिति की आयोजना के अनुसार समाचारों को पहले अलग-अलग प्रकाशित किया गया और फिर सन १८४९ ई० में पूरा न्यू टेस्टामेण्ट प्रकाशित किया गया। इसी समिति की अध्यक्षता में सन् १८५२ ई० में और उसके बाद ओल्ड टेस्टामेण्ट भी प्रकाशित हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी बाइबिल की इस संक्षिप्त ऐतिहासिक रूप-रेखा के बाद उदाहरण के तौर पर भाषा के कुछ अवतरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

सन् १८१९ ई०—

"विश्राम के अन्त अठवारे के पहिले दिन जब पह फटने लगा मरियम मजदली और दूसरी मरियम समाधि देखने को आईं। और देखो कि बड़ा भुइडोल हुआ क्योंकि ईश्वर का दूत स्वर्ग से उतरा और उस पत्थर को समाधि के मुंह पर से ढुलकाके उसपर बैठ गया। उसका स्वरूप बिजली के समान और उसका

वस्त्र पाला की नाईं श्वेत था। और उसके भय से राखवाल काँप गये और मृतक समान हुए। और उस दूत ने उत्तर देके स्त्रियों से कहा कि मत डरो क्योंकि मैं जानता हों कि तुम ईसा को जो क्रूस पर मारा गया ढूंढ़तियां हो। वुह यहां नहीं है परन्तु अपने कहने के समान जो उठा है आओ और जहां प्रभु पड़ा था उस स्थान को देखो। और तुरन्त जाओ और उसके शिष्यन से कहो कि वुह मृत्यु से जी उठा है और देखो वुह तुम से आगे जलील को जाता है तुम उसको वहां देखोगे देखो मैंने तुम्हें चेता दिया। और वे समाधि से तुरन्त भय और बड़े आनन्द से उसके शिष्यन को कहने को दौड़ी"।

—मंगल समाचार मरकस रचित: २८ अट्ठाइसवां पर्ब।

सन १८२० ई०—

"आरम्भ में बचन था और वुह बचन ईश्वर के संग था और वुह बचन ईश्वर था। वही आरम्भ में ईश्वर के संग था। सब कुछ उस्से रचा गया और उस बिना कुछ न रचा गया जो रचा गया। उसमें जीवन था और वुह जीवन मनुष्य का उंजियाला था। और वुह उंजियाला अंधियारे में चमकता है और अंधियारे ने उसे न बूझा। एक मनुष्य ईश्वर के ओर से भेजा गया जिसका नाम यहिया था। यह साक्षी के लिए आया कि उंजियाले पर साक्षी देवे जिसतें सारे लोग उसके कारण से विश्वास लावें। वुह सो उंजियाला न था परन्तु उंजियाले पर साक्षी देने को आया था। वुह सत्य उजियाला था जो हर एक मनुष्य को जो जगत में आता है प्रकाश करता है। वुह जगत में था और जगत उस्से रचा गया और जगत ने उसको नहीं पहिचाना। वुह अपने निजों पास आया और उसके निजों ने उसे ग्रहण न किया। परन्तु जितनों ने उसे ग्रहण किया उसने उन्हें ईश्वर के पुत्र होने का मजदि दिया उन्हीं को जो उसके नाम पर विश्वास लाते हैं। जो न तो रुधिर से और न शरीर की इच्छा से और मनुष्य की चाह से परन्तु ईश्वर से उत्पन्न हुए। और बचन मांस हुआ और उसने कृपा और सच्चाई की भरपूरी से हमों में बास किया और हमने उसके महिमा को देखा पिता के एकलौते के महिमा के समान।"

—मंगल समाचार यूहन्ना रचित: १ पहिला पर्ब।

सन १८२६ ई०—

"हे भाइयो क्या तुम लोग नहीं जानते क्योंकि मैं व्यवस्था के ज्ञानियों से कहता हों कि जबलों मनुष्य जीवता है व्यवस्था के वश में है। क्योंकि विवाहिता स्त्री पति के जीवने लों व्यवस्था से बंधी हुई है परन्तु जो उसका पति मर जाय तो वुह अपने पति की व्यवस्था से छूट गई। सो जो अपने पति के जीते जी वुह दूसरे पुरुष की हो जाय तो व्यभिचारिणी कहावेगी पर जो उसका पति मर जाय तो वुह उस व्यवस्था से छूट गई सो वुह व्यभिचारिणी नहीं है। यद्यपि दूसरे पुरुष से विवाह करे। सो हे भाइयो तुम लोग भी मसीह के शरीर से व्यवस्था के ओर से मर गये जिसतें तम्हारा विवाह दूसरे से होय अर्थात उस्से जो मर के जी उठा कि हम लोग ईश्वर के लिये फल लावें।"

—पूलूस की पत्री रूमियों को : ७ सातवां पर्ब।

सन् १८३४ ई०—

"फिर परमेश्वर मूसा कहिके बोला। कि इस्राईल के सन्तानों को कहिके बोल कि जब तुम अपने निवास के देश में पहुंचो जो मैं तुम्हें देउंगा। और आग से परमेश्वर के लिये होम की भेंट चढ़ाओ अथवा मनौती पूरी करने का बलिदान अथवा वांछित भेंट अथवा ठहराये हुए पर्ब की भेंट परमेश्वर के लिये आनन्द का सुगन्ध लेहंड़े अथवा झुण्ड से चढ़ाओ। तब वुह जो अपनी भेंट परमेश्वर के लिये चढ़ाता है भोजन की भेंट पिसान का दसवां भाग सवा सेर तेल से मिला हुआ भेंट का बलिदान लावे। एक मेम्ना के कारण होम की भेंट अथवा बलिदान पीने की भेंट के लिये सवा सेर द्राक्षारस सिद्ध कीजियो। अथवा मेंढ़े के लिये मांस की भेंट को दो दसवां भाग पिसान पौने दो सेर तेल से मिला हुआ सिद्ध कीजियो। और पीने की भेंट के लिये पौने दो सेर द्राक्षारस परमेश्वर की सुगन्ध के लिये चढ़ाइयो।

—गिनती : १५ पन्द्रहवां पर्ब्ब।

सन् १८३८ ई०—

"और ऐसा हुआ कि जब ईसा ये बातें कहि चुका उसने अपने शिष्यों से कहा। कि तुम जानते हो कि दो दिन

के पीछे बीत जाने का पर्ब्ब होगा और मनुष्य का पुत्र क्रूस पर मारे जाने के लिये पकड़वाया जायगा। तब प्रधान याजक और अध्यापक और लोगों के प्राचीन कायफा नाम प्रधान याजक के सदन में एकट्ठे हुए। और परामर्ष किया कि ईसा को कपट से पकड़ के मार डालें। परन्तु उन्होंने कहा कि पर्ब्ब में नहीं न हो कि लोगों में हौरा मचे। और जब ईसा बैतीना में कोढ़ी शमऊन के घर था। एक उजले पत्थर की डिबिया में बहुमूल्य सुगन्ध तेल लिए हुए एक स्त्री उसके पास आई और उसके बैठने के समय उसके सिर पर ढाल दिया। परन्तु उसके शिष्यों ने देख के जलजलाहट होके कहा कि यह व्यर्थ उठान किस कारण है? क्योंकि यह सुगन्ध तेल बहुत मोल पर बेचा जाता और कंगालों को दिया जाता। जब ईसा ने जाना उसने उन्हें कहा कि तुम इस स्त्री को क्यों छेड़ते हो उसने मुझ पर उत्तम कार्य किया है। क्योंकि कंगाल तुम्हारे संग सदा हैं परन्तु मैं सदा नहीं हों। क्योंकि उसने जो सुगन्ध तेल मेरे देह पर डाला सो उसने मेरे गाड़ने के लिये किया। मैं तुमसे सत्य कहता हों कि सारे जगत में जहां कहीं यह मंगल समाचार प्रचारा जायगा यह भी जो इस स्त्री ने किया कि उसके स्मरण के कारण कहा जायगा।"

—मत्ती रचित : २६ छब्बीसवां पर्ब्ब।

ब्रजभाषा, अवधी आदि बोलियों के कुछ उपलब्ध उदाहरण इस प्रकार हैं :—

अवधी, सन् १८२० ई०--

"हे सरग महँ रहबे आ हमरेन के बाप तोहार नाम पवित्र होउ। तोहार राज आवै। तोहरे मनमन्ता सरगमहँ जस तस संसार महँ किहा जाइ।" मत्ती. ४.९.

बघेली, सन् १८२१ ई०—

"काहे तें ईश्वरुने संसार कों असो प्यारु करो कि वाने अपुनो एकु उत्पनु मोड़ाकों दवो कि जो एकेकु मनुष्य वापैं विश्वासु करतुहें वहे नाशु नाहों होयहे लेकिनु अपारु जीतब पाइें।"

--सेण्ट जॉन. ३. १६.

ब्रजभाषा, सन् १८२४ ई०—

"जालिलके जे लीग अंधकार मै बैठेहैं उनंते बड़ो उजेरो देख्यौ और मृत्यु के देसमैं और छावामैं बैठनवारे जे उनयैं उजेरो उदै भयो।"

—मत्ती. ४. १६.

कनौजी, सन् १८२१ ई०—

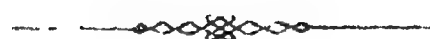
"कसकी ईश्वर जस संसारकैहाँ पियारु कीन्ह अकि ओहि अपने याक उपजे। ढ्वाटाकैहाँ दीन्ह अकि जेइ हरियाक मनई ओहिपरिहाँ विशुआस करत आज ओहु नहशु न होइ अक्याल अंनगंतिन जिउरिया पावैं।"

—सेण्ट जॉन. ३. १६.

इसी प्रकार मगही, बीकानेरी, छत्तीसगढ़ी, गढ़वाली, जयपुरी, मारवाड़ी, मालवी, कुमायूँनी, मेवाड़ी, या उदयपुरी आदि बोलियों और संस्कृत भाषा के उदाहरण भी उपलब्ध हैं जिनसे ईसाई धर्म-प्रचारकों के उत्साह और उनके व्यापक कार्य-क्षेत्र का पता चलता है।

खड़ी बोली हिन्दी बाइबिल का अध्ययन करते समय हमें 'दिंग', 'कहि', 'लों', 'कहावता है', 'सुनतीयां थीं', 'कहतियां थीं', 'प्राण से मार दिया', 'आश्चर्यित', 'बिहान', 'सिरजा', 'उसको बोलो', 'उसके सहाय से', 'दृष्टिमान हुए', 'उन्हें धन्यमान दिया', 'मेरा देह', 'चंगा होने चाहता है', 'धाम', 'उतराया', 'बहुताई', 'जोड़ाइयां', 'दूध पिलातियां होंगी', 'नेवताकारक', 'डर के मारे छिपके था', 'बैयरबानी', 'बोझाई', 'अपनी आँखें मूंद लियां है', 'उसको सैन किया', 'बिना रोक से बचन खोल-खोल ईश्वर के राज्य का उपदेश करता रहा', 'झगड़ाल, अहंकारी, गालफटाक', 'बाचा व्यर्थ भया', 'उपरौठी, 'असड़ाहट', 'अनादरता', 'अहिवाती के लड़के', 'नंगाई', 'बेर', 'डोलायमान', 'उसका महिमा', 'विद्या पढ़ा', आदि अनेक विचित्र, ग्रामीण, और अशुद्ध शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी बाइबिल की भाषा में तत्सम शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग, ब्रजभाषा के रूप, पद्य के उपयुक्त शब्दों का प्रयोग, इंशा और लल्लूलाल की भाषा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। व्याकरण के अशुद्ध प्रयोग और मुहावरे भी मिलते हैं और अनेक स्थानों पर सर्व-प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्द को भी निकाल फेंका गया है। वाक्य-विन्यास अव्यवस्थित और कहीं-कहीं साहबियत लिये हुए है और शैली पंडिताऊ और कृत्रिम है। सम्भव है इनमें से बहुत से

दोष जनता की भाषा से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न के फलस्वरूप आ गये हों। यद्यपि बाइबिल की भाषा उन्नीसवीं शताब्दी भर में प्रायः समान रही, तो भी पूर्ववर्ती संस्करणों की भाषा की अपेक्षा उत्तरकालीन संस्करणों की भाषा में थोड़ा-बहुत सुधार पाया जाता है। बाइबिल की भाषा में जो कुछ विचित्रता है वह विदेशी ईसाई धर्म-प्रचारक लेखकों के कारण है। थोड़े से समय में हिन्दी भाषा की आत्मा पहचान लेना उनके लिए दुश्वार था। धर्म-प्रचार के व्यावहारिक कार्य के लिए एक भाषा-माध्यम के अभाव की पूर्ति के लिए वे जो कुछ सीख लेते थे उनके लिए वही बहुत था। और उन्होंने वही किया भी और अधिक से अधिक दक्षता प्राप्त करने की आकांक्षा होते हुए भी उन्होंने उसी को बहुत-कुछ समझ कर उतने पर ही सन्तोष रखा। उनका महत्त्व ऐतिहासिक है।



भारतेंदु का जीवन

(अंतर्साक्ष्य के आधार पर)

भारतवर्ष की चिंता-धारा में इस जीवन से संबंध रखने वाले विषयों को अधिक महत्व नहीं मिला। वैदिक काल से ही इस सीमित विश्व के पर्दे के पीछे छिपी हुई संचालक शक्ति के प्रति विशेष कुतूहल रहा है। यही एक कारण है कि हमें प्राचीन भारतवर्ष के किसी भी प्रसिद्ध कवि के जीवन-चरित्र का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं होता। वाल्मीकि,कालिदास,तुलसी प्रभृति विश्व-विख्यात कवियों की जीवनियों के संबंध में हमें सदैव जिज्ञासा बनी रहेगी। उन के जीवन के संबंध मे अनेक दंतकथाएं प्रचलित हैं ; किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से वे प्रामाणिक और मान्य नहीं समझी जा सकतीं। कहा जाता है कि वाल्मीकि डाकू थे, कालिदास अरसिक मूर्ख थे, और तुलसीदास दीन-हीन और अनाथ थे। उन की अमर रचनाओं का इन तथ्यों से कोई प्रत्यक्ष संबंध प्रकट नहीं होता। कवि केजीवन और काव्य के घनिष्ट संबंध की ओर तो अब ध्यान जाने लगा है। अन्यथा परंपरागत भारतीय दृष्टिकोण से सांसारिक जीवन अनित्य है। इसलिए अनित्य को छोड़ नित्य, अपरिमेय और अनिर्वचनीय प्रकृति से प्रेरित होकर आनंद और सत्य की खोज में चिरंतन और शाश्वत तथा विश्व के रँगीले पर्दे के उस पार झाँकने वाली भावना का प्राधान्य भारतीय साहित्य का एक ज्वलंत चिह्न है। जीवन को तुच्छ समझ कर ही अपने विषय में कुछ न लिखना आत्मश्लाघा और आत्माभिमान के दोष से बचने का प्रयत्न था। दूसरों ने भी कवियों और कलाकारों के जीवन के अमर पक्ष की ओर ध्यान देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। भारतीय दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार यह जीवन तथा उस से संबंध रखने वाली वस्तुएं नश्वर हैं। केवल आत्मा ही अमर है। वह ही ध्यान देने योग्य वस्तु है। कवि और कलाकर की कृति में उसकी

आत्मा का निवास रहता है। इस लिए भी जीवन से संबंध रखने वाली लौकिक घटनाओं और वस्तुओं की किसी को चिन्ता नहीं हुई। अनेक ऐसी रचनाएं भी मिलती हैं जिन के लेखकों ने अपना नाम तक देने की उत्सुकता प्रकट नहीं की, जीवन के संबंध में अन्य संकेत देना तो दूर की बात है। वह समय ही ऐसा था।

अन्य भारतीय साहित्यों की भाँति हिंदी साहित्य पर भी यह नियम लागू होता है। आत्मग्लानि या आत्मक्षोभ के वशीभूत होकर कभी किसी कवि ने अपने जीवन की घटनाओं की ओर संकेत कर दिया हो अथवा दरबारी वातावरण में रहने वाले किसी रीतिकालीन कवि ने अपने पिता अथवा ग्राम का नाम दे दिया हो, यह दूसरी बात है, किंतु वैसे उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक हमारे कवियों को आत्म कथा लिखने अथवा दूसरों को कवियों के जीवन-वृत्त लिखने का शौक़ नहीं रहा। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी में जीवन की परिस्थितियां बदल चुकी थीं। पश्चिमी सभ्यता के साथ संपर्क स्थापित हो जाने के बाद कवियों को 'छिपे रहने' के लिए कोई स्थान न रह गया। क्योंकि अब 'जिस शिखर से काव्य-स्रोत की उत्पति होती है, वहां तक रेलगाड़ी चल रही है।'

अन्य अनेक विद्वानों ने भारतेंदु के बड़े-बड़े जीवन-चरित्र लिखे हैं। किंतु हमारे आधुनिक हिंदी साहित्य के जन्मदाता ने स्वयं अपने विषय में क्या लिखा है, यह जान लेना भी अर्थहीन न होगा। प्रस्तुत निबंध में कवि के काव्य-स्रोत का उद्‌गम देखने का प्रयास निष्फल होगा। इस के लिए भारतेंदु-जीवन के गहनतम अध्ययन की आवश्यकता है। यह केवल मानव-रूप हरिश्चंद्र का जीवन है, न कि कवि हरिश्चंद्र का। भारतेंदु हरिश्चंद्र का जीवन महान और विचित्र था। हिंदी साहित्य में ऐसे व्यक्ति बिरले ही मिलेंगे। उन के ग्रन्थों में उल्लिखित उन का जीवन उन के विराट् जीवन का एक क्षीण प्रतिबिंब मात्र है। अंतसाक्ष्य तथा वहिसाक्ष्य के आधार पर लिखे गए जीवन चरित्र को मिला कर पढ़ने से हमें उन के जीवन तथा कार्य की विस्तृत परिधि स्पष्ट दिखाई दे सकती है।

भारतेंदु ने अपनी जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। किंतु उन्हीं के कथनानुसार परोक्ष-रूप से हम उन की जन्मतिथि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'नाटक' नामक निबंध के 'परिशिष्ट' में उन्हों ने लिखा है :—

नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जब कि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था।'[1] 'नाटक' की रचना-तिथि १८८३ ई० है। इस लिए पचीस वर्ष पहले का समय १८५८ ई० हुआ। यह भारतेंदु की जीवनी का आठवां वर्ष था, क्योंकि उस समय वे सात वर्ष के हो चुके थे। इस प्रकार उन की जन्म तिथि १८५० ई० निकलती है।

उक्त 'परिशिष्ट' में अपने पिता की प्रगतिशीलता का परिचय देते हुए तथा अपने जीवन की अन्य घटनाओं का उल्लेख करते समय उन्हों ने बनारस का ही अधिकतर नाम लिया है। 'प्रेमजोगिनी' (१८७५ ई०) इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अन्य स्थलों पर भी ऐसे ही संकेत मिलते हैं। अस्तु, बनारस और भारतेंदु के जीवन का घनिष्ट संबंध था, और जैसा कि वहिसाक्ष्यों से ज्ञात होता है उन का जन्म बनारस में ही हुआ था और जीवन के अंत तक वे बनारस ही में रहे।

अपने वंश का वर्णन करते हुए ये कहते हैं:—

वैश्य अग्र कुल मैं प्रगट, बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरिधर चरन रत, वर गिरधारी लाल ॥१॥
अमीचंद तिनके तनय, फतेचंद ता चंद ।
हरखचंद जिनके भए, निज कुल सागर चंद ॥२॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि पद भक्ति दृढ़ाइ ॥३॥
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम गति मेटि जिन, कीनो भक्ति प्रकास ॥४॥
मेटि देवि देवी सकल, छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगट कृष्ण पद प्रीति ॥५॥
पार्वती की कूख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुल चंद्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद ॥६॥[2]

इस से पता चलता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र अग्रवाल वैश्य और प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति अमीचंद के वंशज थे। इन के पूर्वज हर्षचंद ने

[1] 'नाटक', परिशिष्ट, 'भारतेंदु-नाटकावली', इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२७, प्रथम संस्करण, पृ० ८३८

[2] 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७), 'भारतेंदु-ग्रंथावली', काव्य खंड नागरीप्रचारिणी सभा, पृ०२२७

श्री गिरिधर जी की मूर्ति घर में बड़े समारोह के साथ 'पधराई' थी, इस का सविस्तार उल्लेख राधाकृष्णदास ने भारतेंदु की जीवनी में किया है।[1] उन्हीं की सेवा के फल-स्वरूप भारतेंदु के पिता गोपालचंद का जन्म हुआ था। गिरिधर जी की सेवा के फल-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनका दूसरा नाम गिरिधर दास हुआ। इन की माता जी का नाम पार्वती देवी था। भारतेंदु के पिता प्रतिभा संपन्न और प्रगतिशील व्यक्ति थे। धर्म के विषय में वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णव-व्रत का पूर्णरूप से पालन करने के लिए उन्होंने अन्य देवी-देवताओं की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। इस बात का उल्लेख भारतेंदु ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में किया है।[2] इन के पिता ने २७ वर्ष की आयु पाई। किंतु इसी समय उन्होंने 'बलराम-कथामृत', 'गर्गसंहिता', 'भाषा वाल्मीकि-रामायण', 'जरासंधवध महाकाव्य', 'रस-रत्नाकर', 'नहुष नाटक' (हिंदी का सर्वप्रथम विशुद्ध नाटक) आदि चालिस ग्रन्थों की रचना की।[3] अपने पिता के सबंध में भारतेंदु ने एक छप्पय इस प्रकार लिखा है :—

गिरिधरन दास कवि-कुल-कमल वैश्य-वंश-भूषन प्रगट।
रामायन भागवत गरग संहिता कथामृत।
भाषा करि करि रचे बहुत हरि-चरित सुभाषित॥
दान मान करि साधु भक्त मन मोद बढ़ायो।
सब कुल-देवन मेटि एक हरि-पंथ दृढ़ायो॥
लक्षावधि ग्रन्थन निरमये श्रीवल्लभ विश्वास भट।
गिरिधरन दास कवि-कुल-कमल वैश्य-वंश-भूषन प्रगट॥[4]

यहां पर भी इन्हों ने अपने पिता की परिष्कृत रुचि, प्रगतिशीलता और अनेक ग्रन्थों के निर्माण करने की बात का उल्लेख किया है। इन्हीं गिरिधरदास जी के पुत्र भारतेंदु हरिश्चंद्र थे—

जिन श्री गिरिधरदास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस।
ता-सुत श्री हरिचंद कों, को न नवावै सीस॥[5]

---

[1] देखिए 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली'

[2] 'परिशिष्ट, भा० ना०, इं० प्रे०, १९२७, प्रथम संस्करण, पृ० ८३७-८

[3] 'चंद्रावली नाटिका' (१८७६), भा० ना०, इं० प्रे०, (१९२७) पृ० ४९७

[4] 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७), भा०ग्रं०, का०खं०, ना०प्र०स०, पृ०२६५-६

[5] 'चंद्रावली नाटिका' (१८७६), भा० ना०, इं० प्रे०, १९२७, पृ० ४९७

कविवर गिरिधरदास तनूभव हरिश्चंद्र-कृत-गाने ।[1]

तथा—

भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचंद्र जी) का है......आदि ।[2]

इस के अतिरिक्त गोकुलचंद्र इन के भाई थे:—

गोकुल चंद्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद ॥[3]

❀ ❀ ❀

गायति गोकुलचंद्राग्रज कवि हरिश्चंद्र कुलचंद्रे ॥[4]

भारतेंदु हरिश्चंद्र एक प्रसिद्ध आशुकवि थे, इस का भी इन्हों ने स्वय उल्लेख किया है:—

जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद-समान ॥[5]

और हिंदी के एकमात्र जनक और भाषा-नाटकों के जीवन-दाता थे:—

हिंदी का का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवन-दाता, हरिश्चंद्र...[6]

भाषा-कवि और काशी नगरी की शोभा बढ़ाने वाले गुणग्राहक के रूप में वे जगत्-प्रसिद्ध थे ।[7] अपनी प्रकृति की ओर लक्ष्य करते हुए उन्हों ने अपने को 'आरंभशूर' कहा है ।[8]

सन् १८६८ ई० में भारतेंदु के 'कविवचनसुधा' नामक पत्र का जन्म हुआ । 'कविवचनसुधा' का हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है । एक उच्चकोटि का साहित्यिक पत्र प्रकाशित करने के लिए वह एक अच्छा अवसर था । भारतेंदु ने साहित्यिक लेख तथा समाचार, हास्य, यात्रा, ज्ञान-विज्ञान विषयक लेख आदि प्रकाशित कर हिंदी साहित्य की उन्नति करने के विचार से ही यह पत्र निकाला था । इस से हिंदी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन भी खूब मिला । पहले यह पुस्तकाकार मासिक

---

1 'मधु मुकुल' (१८८०), भा० ग्रं०, का० खं०, ना० प्रा० स०, पृ० ४३१

2 'नाटक' (१८८३), परिशिष्ट, भा० ना०, इं० प्रे०, १९२७, पृ० ८३७

3 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७), भा०ग्रं०, का०खं०, ना०प्रा०स, पृ० २२७

4 'प्रेम प्रलाप' (१८७७), भा० ग्रं०, का खं०, ना० प्र० स०, पृ० २९४

5 'चन्द्रावली नाटिका' (१८७६), भा० ना०, इं० प्रे०, १९२७, पृ० ४९७

6 'प्रेमजोगिनी नाटिका' (१८७५), वही, पृ० ७१७

देखिए 'प्रेमजोगिनी नाटिका' (१८७५)

8 'चंद्रावली नाटिका' (१८७६), वही, पृ० ४९६

रूप में निकलत था। । परंतु भारतेंदु के लोकप्रिय व्यक्तित्व की छाप होने के कारण यह पाक्षिक और फिर साप्ताहिक रूप में निकलने लगा । इस के लेखकों में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रेवरेंड ए० एम० शेरिंग, स्वामी दयानंद, दामोदर शास्त्री आदि महान् व्यक्ति थे। राजनीतिक क्षेत्र में यह पत्र जनता का पक्ष लिया करता था। 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६) का विषय तो सर्वविदित ही है। इस भाषण में भारतेंदु का कथन है:—

> हमारा तो सुन कर जी जल गया कि कविवचनसुधा नाम का कोई अखबार सोने और लाल टाइप में उस दिन छपा था जिस महाराज उतारे गए।...[1]

सन् १८८० ई० के लगभग 'मर्सिया' शीर्षक एक 'पंच' के प्रकाशित होने से यह पत्र सरकार का क्रोध-भजन बन गया, जिस के फलस्वरूप सरकार ने इसे खरीदना बंद कर दिया। भारतेंदु को इस से काफ़ी आर्थिक हानि पहुँची। सरकारी विरोध का उल्लेख करते हुए कहते हैं:-

> डिसलायलटी—हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कविवचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों हम उसके पकड़ने को भेजे गए ? हम लाचार हैं ।[2]

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लगभग पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही सार्वजनिक और साहित्यिक कार्य शुरू कर दिया था। इन का अधिकांश समय और धन परोपकार, हिंदी-प्रचार, गुण-ग्राहकता, दीन-दुखियों की सहायता, देशोद्धार आदि पुनीत कार्यों में ही लगता था। किंतु कुछ तो इनकी लोकप्रियता से ईर्ष्या करने के कारण और कुछ धन का नाश हो जाने के कारण इनका दिन पर दिन विरोध होने लगा, और बड़े-बड़े दोस्त किनाराकशी करने लगे। इनकी सब प्रकार की सेवाओं को भूल कर स्वार्थी लोग इन के विरुद्ध षड्यंत्र में लगे रह कर इन को भिन्न-भिन्न प्रकार के दुख पहुँचाने लगे। 'संसार के कुरोग से इन के मन प्राण ग्रस्त थे'। द्रव्याभाव का इन्हें दुख तो नहीं था, किंतु परोपकार में बाधा पड़ते देख और सरकार के कुछ खैरख्वाह लोगों के कार्यों को देख कर इन्हें दुःख होता था। द्रव्याभाव के कारण पीड़ा का तथा परोपकार में जो बाधा पड़ती थी उस का उल्लेख इन्हों ने स्वयं किया है:—

[1] भा० ना०, इं० प्रे०, १९२७, पृ०, ५८०

[2] 'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६२६

द्युमत्सेन—मोहि न धन के सोच भाग्य-बस होत जात धन।
पुनि निरधन सो देस न होत यहौ गुनि गुनि मन ॥
मों कहँ इक दुख यहै जु प्रेमिन हू मोहि त्याग्यौ।
बिना द्रव्य के स्वानहु नहिं मोसों अनुराग्यौ ॥
सब मित्रन छोड़ी मित्रता बंधुन हू नातौ तज्यौ।
जो दास रह्यौ मम गेह को मिलनहुँ मैं अब सो लज्यौ ॥[1]

❀ ❀ ❀

पहला ऋषि—तो इस में आपकी क्या हानि है? ऐसे लोगों से न मिलना ही अच्छा है।

द्युमत्सेन—'नहीं, उन के न मिलने का मुझको अणुमात्र शोच नहीं है। मुझ को तो ऐसे तुच्छमना लोगों के ऊपर उलटी दया उत्पन्न होती है। मुझ को अपनी निर्धनता केवल उस समय अति गढ़ाती है जब किसी सत्पुरुष कुलीन को द्रव्य के अभाव से दुःखी देखता हूं। उस समय मुझ को निस्संदेह यह हाय होती है कि आज द्रव्य होता तो मैं उसकी सहायता करता।[2]

किंतु इतने पर भी इन का कहना है :—

सज्जनगण स्वयं दुर्दशाग्रस्त रहते हैं, तब भी उन से जगत में नाना प्रकार के कल्याण ही होते हैं।[3]

धनवान् तथा संसार-हित के लिए कुछ कर सकने वाले लोगों का जीवन क्रम देख कर ये कहते हैं :—

सू०......हा! शोच की बात है कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है वे ऐसी अंध-परंपरा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैर-खाही दिखानी वा लंबा-चौड़ा गाल बजाना आता है।......क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे-धीरे सब आप ही कर देगा।[4]

---

[1] 'सतीप्रताप' (१८८३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ७७६-७

[2] वही, पृ० ७७७

[3] 'सतीप्रताप', पृ० ७७७

[4] 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ४०५ ६

न०—हा ! प्यारे हरिश्चंद्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा। क्या हुआ "कहेंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी"।[1]

अपने :ख के संबंध में फिर कहते हैं :—

सू०—......इस से बढ़कर और दुःख का विषय क्या होगा किमेरा आज इस जगत् के कर्त्ता और प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है--क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिनाही दुखी होते हैं और दुष्ट मूर्खों के अपमान सहते हैं ? केवल प्राणमात्र नहीं त्याग करते, पर उन की सब गति हो जाती है—छि ! ऐसे निर्दय कोभी लोग दया समुद्र किस मुँह से पुकारते हैं ?[2]

❀ ❀ ❀

सू० —क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र ही दुखी हो !--हा सज्जनशिरोमणे ![3]

अन्यत्र इन का कथन है:--

द्युमत्सेन-- ऐसे ही अनेक प्रकार के कष्ट उठाए हैं, कहां तक वर्णन किया जाय ।

पहला ऋषि—यह आप की सज्जनता का फल है।

(छप्पय)

क्यों उपज्यौ नरलोक ? ग्राम के निकट भयो क्यौं ?
सघन पात सों सीतल छाया दान दयो क्यौं ?
मीठे फल क्यों फल्यौ ? फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पैं बहु बिपति लोक कृत।
तोहि तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित ।[4]
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुरगति उचित ।।

किंतु इतने पर भी ये विपत्तियों के आगे सिर झुकाने वाले साधारण व्यक्ति नहीं थे। लाख विपत्तियां पड़ने पर भी इन्हों ने अपना सिर ऊँचा

[1] वही, पृ० ४०७

[2] 'प्रेमजोगिनी' (१८७५), भा० ना, इं० प्रेस, पृ० ७१६

[3] वही, पृ० ७१७

[4] 'सतीप्रताप' (१८८३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ०७७६-

रक्खा। स्वभावत: ये निर्भीक थे। इन्हों ने किसी की परवाह न की। अपने महान् व्यक्तित्व को लेकर ये सत्य-मार्ग पर स्थिर रहे। ये आत्मसम्मान और आत्म गौरव के साथ जीवित रहना चाहते थे। हिंदी प्रदेश के तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में ये अपने व्यक्तित्व के महत्व को भली भाँति समझते थे। किंतु इस से ये अहम्मन्य नहीं हो गए थे। इस बात से इन्हें एक प्रकार का आध्यात्मिक सुख मिलता था, जो परोपकार और सेवा-मार्ग की ओर प्रेरित करता था। ये दुःखी अवश्य थे, किंतु इस से क्या:—

> कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चल के तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रयत्त आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है; तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहां उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन सहन को अपनी जीवन पद्धति समझेंगे। —तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे, क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गए—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।" मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ है, हा! बड़ा विपरीत समय है।"[1]

कितनी सच्ची और सुंदर गर्वोक्ति है! भारतेंदु की यह गर्वोक्ति भारतेंदु के योग्य थी। क्योंकि—

> चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जगजीवन भारी।
> पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भाँति किसान सुखारी॥
> सूखेहू रूखन कीने हरे जरा पूरयौ महा मुद दै निज बारी।
> हे घन आसिन लौं इतनी करि रीते भए हूं बड़ाई तिहारी॥[2]

---

[1] 'प्रेमजोगिनी' (१८७५), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ०, ७१७-८

[2] 'सतीप्रताप' (१८८३), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ७७६

और भी--

सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुखकंद ।
जनहित कमला तजन जय शिवनृप कवि हरिचंद ॥

❀ ❀ ❀

सू०—इसमें क्या संदेह है। काशी के पंडितों ही ने कहा है।

सब सज्जन के मान को, कारन इक हरिचंद ।
जिमि सुभाव दिन रैन के, कारन नित हरिचंद ॥

और फिर उनके मित्र पंडित शीतलाप्रसाद जी ने इस नाटक के नायक से उनकी समता भी की है —

❀ ❀ ❀

जो गुन नृप हरिचंद मैं, जग हित सुनियत कान ।
सो सब कवि हरिचंद मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान ॥

अरे !

यहां सत्य-भय एक के, काँपत सब सुर लोक ।
यह दूजो हरिचंद को, करन इंद्र उर सोक ॥[1]

साधारण व्यक्ति काल के अनुसार चलते हैं। लोकोत्तर चरित्र काल को अपना वशवर्ती बना कर रखते हैं। भारतेंदु ऐसे ही लोकोत्तर चरित्र थे। इन के मित्र इन के जीवन की बातों को आनंदपूवक सुनते थे। इन्हीं के चरित्र में वे मग्न रहते थे। इन के नाटकों के चरित्र-नायक किसी न किसी रूप में इन से ही मिलते हैं प्रत्येक नाटक किसी न किसी रूप में भारतेंदु के जीवन के एक या दूसरे पक्ष को लेकर चलता है। काशी में भारतेंदु जैसे कवि का गुणगान होता था। ये दर्शनीय, स्मरणीय, गुणग्राहक और काशी नगरी की शोभा थे। इनके चरित्र को समझना सरल कार्य न था। लोग 'प्रति रोम को कर्ण बनाकर महाराज पृथु' होकर इन का चरित्र सुनने की इच्छा रखते थे। क्योंकि—

परम प्रेम निधि रसिक-वर, अति उदार गुन-खान ।
जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद-समान ॥
जिन श्री गिरिधर दास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस ।
ता-सुत श्रीहरिचंद कों, को न नवावै सीस ॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यो, अपने प्रेम-प्रभाव ।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव ॥

[1] 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५), भा०ना०, इं० प्रे०, पृ० ४०७-८

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत के नेम ।
यह दृढ़, श्री हरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम ॥[1]

भारतेंदु का ही तो एक यह छंद है—

सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत चित हित गुनगानी के ।
सीधेन सों सीधे, महाबाँके हम बाकेन सों,
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के ॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह नेही,
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के ।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के ॥[2]

ऐसा व्यक्ति किस से याचना करता, किस के सामने, घोर विपत्ति आने पर भी, क्षुद्रता का अनुभव करता । इन तथा अन्य पूर्वोक्त पंक्तियों से भारतेंदु के व्यक्तित्व और स्वभाव पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

जनवरी, सन् १८८५ ई० में भारतेंदु हरिश्चंद्र की मृत्यु हुई थी । इस से दो वर्ष पूर्व ये किसी रोग से काफ़ी पीड़ित रहे थे । इस का उल्लेख स्वयं इन्हों ने इस प्रकार किया है:—

मुद्राराक्षस का जब मैंने अनुवाद किया तब यह इच्छा थी कि नाटकों के वर्णन का विषय भी इसके साथ दिया जाय ।...एक तो मनुष्य-बुद्धि ही भ्रमात्मिका है, दूसरे मेरी ठीक रुग्णावस्था में यह विषय लिखा गया है,इस से बहुत सी अशुद्धियाँ संभव हैं...[3]

नाथ ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्य-जीवन का अंतिम अंक हो चुकता, किंतु न जाने क्या सोच कर और किस पर अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई । नहीं तो यह ग्रन्थ प्रकाश भी न होने पाता । यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया । जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना अवश्य हुआ । अतएव—

त्वदीयं वस्तु गोबिंद! तुभ्यमेव समर्पये ।

---

[1] 'प्रेमजोगिनी', (१८७५), भा०ना, इं० प्रे०, पृ० ७१८-२०, ७४७

[2] 'चंद्रावली नाटिका' (१८७६), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ४९६-७

[3] 'नाटक' (१८८३), उपक्रम, वही ।

अपनाये हुये की वस्तु समझ कर अंगीकार कीजिये। यद्यपि संसारके कुरोग से मन प्राण तो नित्यग्रस्त थे ही किंतु चार महीने से शरीर से भी रोगग्रस्त तुम्हारा

हरिश्चंद।

बपु लख चौरासी सजे नट सम रिझवन तोहिं।
निरखि रीझि गति देहु कै खीझि निवारहु मोहि॥
कृष्ण त्वदीय पदपंकजपंजरांते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कंठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते॥

चैत्र शुक्ला पूर्णिमा
महारास की समाप्ति
संवत् १९४०[1]

राधाकृष्णदास ने भारतेंदु की अंतिम घड़ियों का अत्यंत हृदयस्पर्शी वर्णन दिया है।

भारतेंदु ने अपने अल्प जीवन में नाना विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की। विभिन्न लेखकों ने इन के ग्रन्थों की विभिन्न सूचियां दी हैं। स्वयं भारतेंदु ने हिंदी नाटकों का संक्षिप्त इतिहास[3] देने के बाद अपने नाटकों की सूची इस प्रकार दी है—'मुद्राराक्षस' 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'विद्यासुंदर', 'अंधेरनगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'सतीप्रताप', 'चंद्रावली', 'माधुरी', 'पाखंड-विडंबन', 'नवमल्लिका', 'दुर्लभबंधु', 'प्रेमयोगिनी', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'कर्पूरमंजरी', 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-जननी', 'धनंजय-विजय', और 'वैदिकी हिंसा'।[2] 'नहुष' के बाद राजा लक्ष्मणसिंह-कृत 'शकुन्तला' की गणना की जाती है। भारतेंदु के अनुसार 'विद्यासुंदर' इन का तीसरा नाटक था। 'जानकी-मंगल' के बाद प्रयाग और कानपुर में लोगोंने श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' और भारतेंदु-कृत 'सत्य-हरिश्चंद्र' का अभिनय किया था। यह स्वयं इन्हीं का कथन है। इनकी रचनाओं में इन्हीं का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित है, इस ओर पहले ही लक्ष्य किया जा चुका है।

यहां मैं केवल यही संकेत कर देना चाहता हूं कि ये वल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव थे। अपने सांप्रदायिक संबंध का उल्लेख इन्हों ने अपने काव्य ग्रन्थों में किया है। 'चंद्रावली नाटिका' में भी इन के सांप्रदायिक सिद्धांत

---

[1] वही, समर्पण, पृ० १–२
[2] वही, पृ० ८३६-४१
[3], 'नाटक', पृ० ८४१

का प्रतिपादन हुआ है। किंतु वल्लभ-संप्रदाय के होते हुए भी सर्वोपरि अपने को प्रेमी ही मानते थे। प्रेम ही इनका महान् धर्म था वैष्णव होने के नाते इन्हों ने इसी प्रेम-धर्म का पालन किहा। इन्होंने अपने को 'रसिक-शिरोमणि'कहा भी है।

अस्तु दृढ़व्रत, प्रेमीजीव, रसिक-शिरोमणि, सज्जनों के मान, जनता के एकमात्र जीवन, परमबंधु, पिता-मित्र-पुत्र, जग-जन-रंजन, भारत के एक मात्र हित, सत्य के एकमात्र आश्रय, सौजन्य के एक मात्र पात्र, भारत-भूषण, शायर मारूफ़, बुलबुले हिन्दुस्तान, पोएट लारियेट आव्, इंडिया हिंदी साहित्य के एक रत्न, हिन्दी के एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों के जीवनदाता, विद्यानिष्ठ, तत्कालीन, पश्चिमोत्तर प्रांत के प्रसिद्ध समालोचक, प्रतिनिधि और उन्नतिशील कवि, परदुःख कातर, धर्म-परायण, ईश्वरानुरागी, आशुकवि, सर्वकलासंपन्न, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की यह उन्हीं के शब्दों में जीवन-कथा है।

कहा जाता है कि किसी कमीश्नर ने एक बार कहा था कि "गोपालचंद्र एक फ़िरिश्ता है, जो पर काटकर भूतल पर छोड़ दिया गया है।" इन्हीं गोपालचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र थे।

काशी तो अनादि काल से पुण्य-नगरी रही है। भारतेंदु के कारण उस की महिमा बढ़ी ही थी। सब प्रांत के सब प्रकार के लोग इन से मिलने आते थे। पटना के श्री हरिमंदिर के महंत बाबा सुमेर सिंह साहब साहबज़ादे अतिशयोक्ति के साथ सही, यह कहते थे कि "यदि हरिश्चंद्र कुछ दिन और जीवित रहते तो जो काशी आता पहले इनके दर्शन करके तब विश्वनाथ का दर्शन करता।"

आदि अंत शोभित भये हरिश्चंद्र प्रातः स्मरन।
बनिजवंश अवतंस धैर्य धीरज वपु धारी।
चौंसठ कला प्रवीन प्रेम मारग प्रतिपारी।
विद्या विनय विशिष्ट शिष्ट समुदाय सभाजित।
कविता कल कमनीय कृष्ण लीला जग प्लावित।
कई लक्ष वाणी भगतमाल उत्तरारध करन।
आदि अंत शोभित भये हरिश्चंद्र प्रातः स्मरन।[1]

❀ ❀ ❀

हिंदी प्राणप्रियः पूज्यः काव्यकाननकोकिलः
युगांतरकरः श्रीमान् हरिश्चंद्रस्तथाऽवरः'[2]
ऐसे श्री हरिश्चंद्र को 'को न नवावै सीस !

[1] राधाचरण गोस्वामी, 'नव भक्तमाल' (१८८६), छंद ५४

[2] सूर्यनारायण व्यास, उज्जयिनी।

भारतेन्दुकालीन हिन्दी कविता

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध काल समूचे हिन्दी साहित्य के लिये युग परिबर्तन का काल है। नवयुग की चर्चा चलाते समय हमारा ध्यान बरबस हिन्दी के गद्य-साहित्य की ओर चला जाता है। क्योंकि हिंदी के नवीन युग की अवतारणा गद्य-साहित्य से ही मानी जायगी। हिंदी का पिछला अपरिपक्व गद्य इसी काल में विकास की ओर गतिमान हुआ, उसकी भाषा ने अनेक रूप धारण किये, शैली में ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ और वह नये-नये विषयों की ओर अत्यंत तीव्र वेग से प्रधावित हुआ। लेकिन हमारी प्राचीन साहित्यिक सम्पदा कविता ही थी। नव युगीन हिन्दी साहित्य की बात करते समय हमें कविता को अंत में ले आना अनिवार्य हो जाता है। और जहाँ तक कविता से संबंध है, तत्कालीन हिन्दी कविता को दो स्थूल भागों में विभक्त किया जा सकता है : एक को हम प्राचीन या परंपराविहित कविता कह सकते हैं और दूसरे को नवीन कविता। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिये इन दो भागों के बीच विभाजन-रेखा खींचने में किसी दुरूहता का सामना न करना पड़ेगा। उन्नीसवीं शताब्दीके शुरू से लेकर अंततक हिन्दी की वीर, भक्ति और रीतिकालीन काव्य-परंपरा की एक अविच्छिन्न धारा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता और हिन्दी जनता के संपर्क से नवीन कविता का जन्म हुआ। नवीन कविता ने आगे चल कर जो रूप ग्रहण किया वह हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व है। इस प्रकार आलोच्य काल की हिन्दी कविता को सहज ही दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। परिपाटीविहित हिन्दी कविता में यदि जीवन की संध्याकालीन म्लानता पाई जाती है तो नवीन कविता में उषाकालीन सरलता और स्निग्धता—काव्यशास्त्र या अन्य किसी भी प्रकार के जटिल बंधनों से मुक्त और विकासोन्मुख। पहिली बार हिन्दी कवि इस काल में अपनी पुरानी संपदा छोड़कर आगे बढ़ा और वर्षों के अलसाये जीवन का परित्याग

कर उसने नज़र घुमा कर अपने चारों तरफ़ की दुनिया देखी। इसी में हमारे कवियों का महत्व है।

यहाँ पर यह बतला देना भी ठीक होगा कि इस काल में अधिकतर संख्या उन्हीं कवियों की थी जिन्हों ने पुरानी परिपाटी की ही कविता की। एक श्रेणी उन कवियों की भी थी जिन्होंने एक ओर तो साहित्य की नवीन प्रगति में योग दिया और दूसरी ओर प्राचीन काव्य-परंपरा का भी निर्वाह किया। वैसे भी देखा जाय तो ऐसा कोई कवि न मिलेगा जिसने प्राचीन काव्य-परम्परा बनाये रखने में थोड़ा-बहुत योग न दिया हो। बिल्कुल ही नवीन परिपाटी का कोई कवि नहीं मिलता। हाँ, बालमुकुंद गुप्त ज़रूर अपवाद स्वरूप माने जा सकते हैं।

हम अभी हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता का ज़िक्र कर चुके हैं। हिंदी-साहित्य के आलोच्य विकास-काल के समय हमारे पास जो पूंजी थी वह पुराने ढंग की कविता थी और कविता की इसी प्राचीन परम्परा का प्राधान्य रहा।

हिंदी साहित्य के मध्य युग में हिंदी कविता उत्तरकालीन संस्कृत कविता की अनुगामिनी हुई। कविगण रस, अलंकार, नायक-नायिका-भेद आदि विषयों का विस्तृत वर्गीकरण कर संस्कृत कविता के स्वर में स्वर मिलाने लगे। संस्कृत कवियों की तुलना में हिन्दी कवियों का यह प्रयास तुच्छ जान पड़ता है। सैकड़ों वर्षों तक हिंदी के रीति-कालीन कवियों ने इस प्रकार की रचनाओं से अपने आश्रयदाताओं का मन बहलाव किया। अपना व्यक्तित्व मिटाकर शास्त्र के विविध बन्धनों के भीतर रहकर हिंदी के कवियों ने कीर्ति और ऐश्वर्य को अपना ध्येय बनाया। किंतु ऐसा करने में लोक-कल्याण और वास्तविक जीवन की विषम कठिनता से वे दूर हट गये। हिंदी के रीतिकालीन साहित्य में जन-साधारण के जीवन के साथ घनिष्ठ संबन्ध तो न ही है, परन्तु लोकजीवन में प्रचलित अनेक आचारों और कथाओं का आभास मिलता है। इस साहित्य में कवि की बंधनहीन आत्मा की व्यापकता नहीं है। कुछ विद्वान् इन कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिकता की झलक देखते हैं। परन्तु उनका ऐसा करना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। उनकी (कवियों की) भक्ति-विषयक रचनाएँ बिल्कुल अलग हैं और उन्हें उनकी शृंगारात्मक रचनाओं से मिलाना ठीक न होगा। रीति-विषयक कविताओं में शुद्ध शृंगार है जिसे मुग़लकालीन भोग-विलासपूर्ण दरबारी जीवन और उन दरबारों के आधीन और उनका अनुकरण करने वाले हिंदू

राज-दरबारों से आश्रय तो अवश्य मिला, परन्तु जिसका जन्म भक्ति-काल के कठोर धार्मिक नियन्त्रणों के प्रतिवाद स्वरूप दबी हुई भावनाओं के निकास के लिये उपयुक्त साधन खोजने के प्रयास के फलस्वरूप हुआ। कवियों ने स्त्री-पुरुष के रति-पूर्ण संबन्ध को अपनाया। रामायण, महाभारत और भागवत से उपयुक्त सामग्री मिल जाने पर वे श्रद्धालु जनता के निकट सम्मानित हुए। उनके नायक-नायिका ऐहिक जीवन से संबन्ध रखने वाले हैं। राधा और कृष्ण तो प्रतीक मात्र हैं। भिखारीदास के कथनानुसार:—

'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,
नत, राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

इससे शृंगार-काव्य का ऐहिक होना सिद्ध होता है।

हिंदी की यही रीतिकालीन कविता उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में बहुत कुछ श्री-हीन और म्लान हो चुकी थी। वह अपना उज्ज्वल पक्ष खोकर अंधकार की ओर बढ़ रही थी। इसी समय पश्चिमी सभ्यता के साथ संपर्क स्थापित हुआ। उस समय भारतवर्ष के आर्थिक संगठन के साथ-साथ सामाजिक संगठन भी छिन्न-भिन्न हो गया था। सामाजिक संगठन के साथ घनिष्ठ संबन्ध होने के कारण राजनीतिक दृष्टि से मृतप्राय राजा-महाराजाओं के रहे-सहे दरबारी जीवन का साहित्य-सूर्य दिन-पर-दिन अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था। विनाश के दृश्य तो चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे, परन्तु रचनात्मक या पुनर्निर्माण के कार्य का नितांत अभाव था। इस पर भी पश्चिमी आर्थिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचार से देश के प्राचीन आर्थिक और सामाजिक संगठन को अधिकाधिक आघात पहुँचता गया। इस आर्थिक और सामाजिक संगठन से कवियों की जीविका का गहरा सम्बन्ध था। उन्हें हमेशा से राज्याश्रय प्राप्त होता चला आ रहा था। परंतु राज-दरबारों की दीनहीन दशा होने के कारण इस आश्रय में भी कमी हो चली थी। अँगरेजी राज्य-विस्तार के साथ-साथ आलोच्य काल में दरबारी साहित्यिक क्रिया-कलाप की गति और भी मंद पड़ गई। नये आर्थिक संगठन के जन्म के फलस्वरूप कवियों को अब अपनी जीविका के लिये दरबारों का मुंह नहीं ताकना पड़ता था। दूसरे पाश्चात्य शिक्षा-प्रचार के प्रभाव और देश की दीनहीन अवस्था के कारण विद्वानों और सुहृद समाज का ध्यान भी कृष्ण के केलि-कुञ्जों की ओर से हट कर देश की पतितावस्था और पेट भर भोजन न पाने वाली दरिद्र और पीड़ित जनता की ओर गया। तो भी रीवाँ, ओरछा, बूंदी, पन्ना, अयोध्या, सुठालिया, रामपुर (जिला मथुरा), काशी

हरिहरपुर आदि छोटे-छोटे राज-दरबारों और काशी, मथुरा, प्रयाग आदि केन्द्रों में शृंगार साहित्य की रचना नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण और साहित्यिक परम्परा के रूप में बराबर हो रही थी। हिंदी साहित्य के इस संक्रांतिकाल में प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से एकदम विमुख हो जाना आसान भी न था।

रीतिकाल में शृंगार का विशद और विस्तृत विवेचन हो चुका था। इसलिए इस काल में कवियों को इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा दिखाने का कम अवसर रह गया था। और उस समय जब कि नवीन प्रभावांतर्गत कवियों की मनोवृत्ति ही बदलती जा रही थी शृंगार की विशदता का कम होना स्वाभाविक ही था। अलोच्य काल का शृंगार-काव्य पिछले काल का पिष्टपेषण मात्र है। पूर्ववर्ती कवियों के मनोहर एवं हृदयग्राही वर्णनों को छोड़ कर अब के कवियों ने रति-केलि और राधा-कृष्ण की विविध हीन लीलाओं आदि का ही अधिकांश में वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त नख-शिख-वर्णन, रूप, सुकुमारता, और नायक-नायिका-भेद के अति विस्तृत वर्णन ने भद्दा स्वरूप ग्रहण कर लिया। वैष्णव मन्दिरों के कर्मकांडांतर्गत कृष्ण-संबंधी लीलाओं की जैसी छीछालेदर इस काल के साहित्य में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये रचनाएँ अधिकांश में साहित्यिक सौष्ठव से हीन और काव्य-कला की कंकाल मात्र है। 'द्विजदेव', भारतेंदु, 'भुवनेश', गोविंद गिल्लाभाई, सरदार, 'अजान' कवि, लछिराम, चंद्रशेखर, वाजपेयी आदि की रचनाओं में रस, अलंकार आदि की दृष्टि से साहित्यिक छटा प्रायः मिल जाती है। मुक्तक काव्य के ये कवि दिन भर मधु संचय करने के बाद थकी हुई मक्खियों के जमघट के समान हैं। इस भीड़ में काव्य-शास्त्र की आड़ में शृंगार का वर्णन ही प्रधान है। काव्य-शास्त्र का सहारा तो आचार्यत्व-प्रदर्शन की केवल परंपरा के रूप में है। तो भी आचार्यत्व की दृष्टि से काव्य-शास्त्र-विषयक शास्त्रीय ढंग पर रचे गये ग्रंथों का नितांत अभाव नहीं रहा। ऐसे थोड़े-से ग्रंथों में काव्यत्व को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया और वे विवेचनात्मक हैं। भक्ति के क्षेत्र में भी नवयुग और विविध सुधारवादी आंदोलनों के फल स्वरूप कोई विशेष महत्वपूर्ण रचना न हो सकी। भारतेंदु, रघुराज सिंह और रघुनाथदास राम सनेही की रचनाओं को छोड़ कर अन्य रचनाएं भक्ति-रस से हीन और भक्तिकाल की अनुकरण मात्र हैं। इन भक्त कवियों ने प्रबंध और मुक्तक रचनाएं कीं। उन पर मन्दिरों के कर्मकांड का घातक प्रभाव स्पष्ट

लक्षित है। राधास्वामी सत्संग जैसे नये धार्मिक संप्रदायों के कवियों की रचनाएं भी साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। वीरकाव्य के विषय में इतना कहना ही काफ़ी होगा कि छोटे-छोटे दरबारों के कवि अब भी मुक्तक काव्यांतर्गत अपने आश्रयदाताओं की तारीफ़ के पुल बाँध रहे थे। परंतु उनका कोई ऐतिहासिक या साहित्यिक महत्व नहीं है। वैसे उन्हें वीरकाव्य कहना भी ठीक नहीं। वास्तव में आलोच्य काल में आल्हा-शैली तो अवश्य प्रचलित थी परंतु आल्हा की वीर गाथा का नितांत अभाव था।

अब तक हम प्राचीन काव्य-परंपरा की बात करते आ रहे थे। यह काव्य-परंपरा संस्कृत और पिछले खेवे के हिंदी कवियों की रचनाओं से चालित होती रही। बँधे-बँधाये नियमों का पालन करने में कविगण अपनी प्रतिभा का साफल्य स्वीकार कर चुके थे। यह कहना अनुचित न होगा कि अधिकांश में कविता के स्थान पर पद्य मात्र का राज्य प्रतिष्ठित हो गया था। कवि अपने प्राचीन वैभव को भूल चुके थे। इसी समय हिंदी कविता की नवीन धारा का जन्म हुआ। प्राचीन की पीठिका में नवीन का महत्त्व स्पष्ट झलकता मिलता है।

नवीन कविता यथार्थवाद-प्रधान है। और यथार्थवाद का आश्रय लेने से कविता सदैव इतिहास के समीप आ जाती है। यही कारण है कि इस काल की नवीन कविता को इतिहास अपनी दोनों भुजाओं से आवृत्त किये हुए हैं। इस तथ्य के परिणाम स्वरूप पिछली कविताओं की अपेक्षा नवीन काव्य में ध्वनि-मूलक भेद होना ही चाहिए। अस्तु, हिंदी कविता की नवीन धारा पर विचार करते समय देश की नवागत राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधि का अध्ययन कर लेना नितांत आवश्यक है।

वैसे तो उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हिंदी-भाषा भाषी पश्चिमी सभ्यता के संपर्क में आ चुके थे। परंतु एक जीवित जाति के संस्पर्श से एक के जीवन के आधात से दूसरी जाति के जीवन में जो स्फूर्ति पैदा होती है उसका उस समय अभाव रहा। उस आधात से बंगाल तो अपनी पुरानी संपदा छोड़ एक विशेष दिशा की ओर जाने के लिये छटपटा उठा था। हिंदी प्रदेश के लिये वह समय अभी दूर था। सन् १८४९ ई० में द्वितीय सिक्ख युद्ध के बाद भारतवर्ष पूर्ण रूप से अँगरेज़ों के हाथ में आगया। परंतु सन् १८५७ ई० में कुछ विवादास्पद कारणों से भारत के राजनीतिक गगन-मंडल में विपत्ति के काले बादल छा गये। जैसे-तैसे विद्रोह की आग शान्त की गई। अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति का मुक़ाबला

करने का साहस अब किसी में न रह गया। स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा है:—

'कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुं भारतवासी॥'

विद्रोह के दमन के बाद देश में एक प्रकार से शांति स्थापित हो गई और देश का शासन-सूत्र कंपनी के हाथ से निकल कर इंगलैंड-सरकार के मंत्रि-मंडल के हाथ में चला गया। उस समय महारानी विक्टोरिया की ओर से उदारता, दया और सहिष्णुता के आदेश से देश के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष एक राजनीतिक सत्ता के सूत्र में बँध गया। चारों ओर राजनीतिक, फ़ौजी, आर्थिक और क़ानूनी सुधारों का ताँता लग गया। राजनीतिक सुधारों और वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से देशवासियों का पारस्परिक संपर्क बढ़ा और वे पाश्चात्य जगत के अधिक निकट आये। देश के उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने पर विदेशों की चीज़ें यहाँ धड़ाधड़ खपने लगीं जिससे देशी जनता की निर्धनता दिन-पर-दिन बढ़ती गई। अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार से यहाँ के अँगरेज़ी-शिक्षितों के सामाजिक विचारों में परिवर्तन होने लगा। रेल, तार, डाक, प्रेस, आदि से अन्य अनेक लाभों के साथ देश में मशीन-युग ने प्रवेश किया। इससे देश की औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति में बहुत सहायता मिली। स्वेज़ नहर के खुल जाने से भारत और युरोप का संबंध और भी घनिष्ट हो गया। लॉर्ड रिपन ने लॉर्ड लिटन के बनाये हुए 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' को रद्द कर और स्थानीय स्वशासन की नींव डालकर अपनी लोकप्रियता बढ़ा ली। इन सब नई और पुरानी राजनीतिक बातों में भारतवासियों ने पूरा-पूरा भाग लिया। उन्होंने समय की गति देखकर सरकार के साथ सहयोग भी स्थापित किया और साथ ही टैक्स, काले-गोरे का भेद-भाव, आर्थिक अधोगति, शासन में ऊँच-नीच का दर्जा आदि विषयों का विरोध भी किया। भारतीय जनता में राजनीतिक चेतनता पैदा हुई। साथ ही युरोपीय राजनीतिक विचार उन्हें अपनी ओर खींचने लगे। उनमें आत्म-सम्मान और आत्म-निर्भरता की भावना पैदा हुई।

भारतवर्ष में सामाजिक और धार्मिक विचारों के बीच एक विभाजन रेखा खींचना दुस्तर कार्य है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में प्रादुर्भूत ब्राह्म समाज आंदोलन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस आंदोलन से बंगाली

जीवन में नवस्फूर्ति का संचार हुआ। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश की जनता पर उसका कोई प्रभाव न पड़ सका। परंतु काल-प्रभाव से और कुछ नवशिक्षा के प्रभावांतर्गत हिंदी जनता स्वयं धार्मिक और सामाजिक सुधारों की ओर प्रवृत्त हो रही थी। इस सुधार प्रवृत्ति को आर्य समाज आंदोलन ने और भी शक्ति प्रदान की। देश में धार्मिक और सामाजिक सुधारों की लहर फैल गई। धर्म-संबंधी विषयों में सरकार ने उदासीनता की नीतिग्रहण की।

वास्तव में आलोच्यकाल भारत के नवोत्थान का काल है। इन विविध सुधारवादी आंदोलनों, भारतीय प्राचीन साहित्य के अध्ययन और राजनीतिक चेतनता के फलस्वरूप देश में आत्म-गौरव का जन्म हुआ। यही इस काल की प्रधान घटना है जिसने देश का जीवन ही पलट दिया। नवयुग के साथ विचार-स्वातंत्र्य और राष्ट्रीयता की भावना का आविर्भाव हुआ। इसी कारण देश ने कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया। देश के अध:पतन के कारण खोज-खोज कर निकाले जाने लगे और देशवासी अपने-अपने दृष्टिकोण से उसकी सेवा में तत्पर हुए। अँगरेज़ी राज्य से देश के उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग की उच्च श्रेणी को लाभ पहुँचा था। इन्हीं के हाथ में देश की बागडोर थी। फलत: इस काल की राजनीति उदार और मध्यमवर्गीय है। लेकिन आर्थिक दुर्दशा इन वर्गों से भी न देखी गई। भारतेंदु, बालमुकुन्दगुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि कवि अँगरेज़ी राज्य के प्रति भक्ति दिखाते हुए, अँगरेज़ी राज्य की नियामतों का गुणगान करते हुए भी उसकी आर्थिक नीति तथा अन्य अन्यायपूर्ण बातों का विरोध किये बिना न रह सके।

अस्तु, इन आंदोलनों के फलस्वरूप चारों ओर सुधार और प्रगति की आवाज सुनाई देने लगी। अब शिक्षित और सुहृद समाज को कविता का प्राचीन आदर्श खटकने लगा। देश की रूढ़िप्रियता, पाश्चात्य सभ्यता की गुलामी, पुलिस और अदालती लोगों की लूट खसोट, देश के स्वार्थी अमीरों की स्वार्थपरता, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल, कपट, भारत की निर्धनता, पारस्परिक कलह और फूट आदि से उन्हें सामूहिक भलाई की कोई आशा नहीं थी। विचार-स्वातंत्र्य के जन्म के साथ, वे लोक-कल्याण की बात सोचने लगे। भारतेंदु नवयुग के अवतार और देशभक्त कवि थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि की आवाज़ सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में

स्वर मिलाया। सिपाही-विद्रोह, इङ्गलैण्ड के राज्य-सिंहासन और भारत में स्थित सरकार के प्रति भक्ति, विदेशों में भारतीय सेनाओं की विजय पर प्रसन्नता और भारत के हितों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करना, स्वतंत्रता और आर्थिक उन्नति की माँगें, बराबरी का दर्जा मिलने की माँग अँगरेजी राज्य के कारण वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से लाभ और दुष्टों से, रक्षा होने पर हर्षावेग प्रकट करना, सर्वत्र शांति स्थापित करने के लिये अँगरेजी राज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, जनसत्तात्मक शासन-प्रणाली की माँग आदि विषय नवीन हिंदी कविता में व्यक्त होने लगे। काल-गति और भारतीय जनसाधारण की पतितावस्था देखते हुए नवीन धारा के इन देशभक्त कवियों का दृष्टिकोण बहुत कुछ ठीक था। मध्यमवर्ग की निम्नश्रेणी के लोगों की दशा किसानों और निम्नवर्ग के लोगों से अच्छी नहीं थी। उनमें बेकारी और आर्थिक असन्तोष की लहर फैली हुई थी। समाज के उन्नतवर्ग ने देश में चारों ओर अज्ञान, अविद्या, निर्धनता और नैतिक दुर्दशा का राज्य और जनता में कुप्रवृत्तियों का प्रचार देखा। ऐसी दशा में राजनीतिक आंदोलन उग्ररूप धारण कर ही कैसे सकता था। इस अधोगति की दशा में स्वतंत्रता का अर्थ ही क्या था और स्वतन्त्रता मिल भी जाती तो उसकी रक्षा कौन करता? इसलिये भारतेंदु तथा उनके सहयोगी एक ओर तो अवसर मिलने पर जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने पेश करते थे, दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते थे। जुबिली, राजकुमारागमन, राजकुमार-जन्मोत्सव आदि अवसरों पर वे राज्यभक्ति तो प्रकट करते ही थे, साथ ही वे सरकार से अपनी माँगें पूरी करने की अपील भी करते थे। संक्षेप में, तत्कालीन राजनीतिक जागृति नवीन हिंदी कविता में चार रूपों में प्रस्फुटित हुई। पहला, देशभक्ति और भारत की पराधीनता पर क्षोभ। दूसरा, भारत के दुःख, दारिद्रय और आर्थिक दुरवस्था पर संताप। तीसरा, राजनीतिक एवं शासन-सम्बन्धी सुधारों और जनसत्तात्मक प्रणाली की स्थापना की माँग और ऐसी माँगों की पूर्तियों पर प्रसन्नता प्रकट करना। और चौथा, आपस का मतभेद और भेदभाव भूल कर स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये संगठित होना।

यह तो नवीन हिंदी कविता का राजनीतिक पक्ष हुआ। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी उसने अपनी सजीवता का परिचय दिया। उस समय दोनों धार्मिक (साथ में सामाजिक भी) आंदोलनों, सनातन धर्म और

आर्य समाज, के पक्षपातियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से समाज और धर्म में सुधार करने चाहे। सनातनधर्मी कवियों में भारतेंदु अग्रगण्य थे। इस काल के प्रायः सभी प्रमुख-प्रमुख कवियों ने सनातन धर्म में समयोचित और भारतीय प्रतिभा के अनुकूल सुधारों का स्वर उठाया है। सनातन धर्म का स्वरूप बिगाड़ कर वे सुधार करना नहीं चाहते थे। इसीलिए वे ब्राह्म समाज और आर्य समाज को भारतीय धर्म का घातक समझते थे। कुछ अँगरेजी शिक्षित उग्र सुधारकों की नीति तो उन्हें बिलकुल पसंद न थी। संयोगवश सनातन धर्म के पक्षपातियों की संख्या ही अधिक रही। आर्य समाज आंदोलन का गद्य पर विशेप प्रभाव पड़ा। काव्य-क्षेत्र में उसका प्रभाव इस काल में अत्यंत न्यून है। आर्य समाज कोई प्रसिद्ध कवि उत्पन्न न कर सका। काव्य क्षेत्र में आर्यसमाजी कवि केवल गो-रक्षा, विधवा-विवाह आदि पर भीड़ को खुश करने वाले अकलात्मक भजन, लावनियाँ आदि लिख पाये। कला का अभाव दुनिया के सभी सुधारवादी (Puritanical) आंदोलनों में पाया जाता है। परंतु इतना भेद होने पर भी सुधार की प्रबल आकांक्षा दोनों पक्ष वालों में थी। अविद्या, नशाखोरी, जूआ, वर्ण-भेद, स्त्रियों की शिक्षाहीनता, विवाह के अवसरों पर अपव्यय, बहु-विवाह, विधवा-विवाह-निपेध, बाल-विवाह, बाल-हत्या पश्चिमी सभ्यता की गुलामी आदि बुराइयों का मूलोच्छेदन कर देश की सम्यक उन्नति उन सबको प्रिय थी। वे सब मातृभाषोद्धार, वेदों की निष्ठा, स्वदेश-प्रेम आदि बातों का प्रचार कर समाज के जीवन में नवप्राणों का संचार करना चाहते थे। आर्य समाजी मूर्ति-पूजा और ब्राह्मणों के कर्मकांड के विरोधी थे। सनातनियों ने ब्राह्मणत्व से च्युत ब्राह्मणों की दशा पर क्षोभ प्रकट किया। कूप-मंडूकों को उन्होंने खूब लताड़ा।

बाह्य परिस्थिति के प्रति सजगता प्रकट करने के साथ नवीन हिंदी कविता का आभ्यंतर भी हमें बदला हुआ मिलता है। उदाहरण के लिये नवीन कविता का प्रकृति-वर्णन ही लीजिए। अब तक के हिंदी कवि संस्कृत के पिछले कवियों के अनुकरण पर शृंगार के अंतर्गत केवल उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख करते थे। नवयुग के साथ हिन्दी का प्रकृति वर्णन भी बदला। भारतेंदु तो केवल मानव-प्रकृति के कवि थे। बालमुकुंद गुप्त और ठाकुर जगमोहनसिंह ने अच्छे प्रकृति-वर्णन किये हैं। परंतु इस क्षेत्र में श्रीधर पाठक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन पर गोल्डस्मिथ का प्रभाव स्पष्ट लक्षित

होता है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और सुन्दर दृश्य-विधान के साथ नवीन कविता में वनस्थलियों के भी बड़े सुन्दर और सच्चे वर्णन मिलते हैं। इन सब बातों से हिंदी कविता के प्रकृति-वर्णन का फिर से संस्कार होने लगा।

नवीन कविता के इस संक्षिप्त विवेचन से उसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। पुरानी परिपाटी को छोड़कर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार नये क्षेत्रों और विषयों की ओर मुड़कर उसने अपनी सजीवता का परिचय दिया। उसका विषय-चयन बिल्कुल नया है। उसमें ऐतिहासिक सत्य, हास्य, व्यंग्य तथा अन्य अनेक जीवनव्यापी व्यापारों का अनुसरण मिलता है। ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों का उसमें पूरा ध्यान रखा गया है। प्राचीन धारा का एक गौरवशील साहित्य की परंपरा में होने के कारण महत्व अवश्य है, परंतु वह मृतप्राय हो चुकी थी। उसका अंत हिन्दी साहित्य की महान् ऐतिहासिक घटना है। काव्य की नई धारा ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का प्रयोग किया और कजली, लावनी आदि कुछ नये छंदों का भी प्रयोग किया। साथ ही वह पुरातनत्व के घने जंगल में केवल एक स्वच्छ और चमकती हुई जलधारा के समान है। परंतु उसका वास्तविक महत्व, प्रचारात्मक और सामयिक होते हुए भी, शैली की मनोहरता और आधुनिक विचारधारा की जन्मदात्री होने की दृष्टि से है। ज्ञान-संचय की प्रबल आकांक्षा लेकर और नीर-क्षीर विवेक ग्रहण कर हमारे कवियों ने देश की मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवन की आधार शिला का निर्माण किया। इसके लिये हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे चिरस्मरणीय रहेंगे।



हिंदी कविता के पिछले सौ वर्ष

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता और नवीनता के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म सन् १८५० ई० (सं० १९०७ वि०) में हुआ था। उन्होंने साहित्य की अवरुद्ध गति का पुनरुद्धार कर एक नई यथार्थवादी और प्रगतिशील प्रवृत्ति की सृष्टि की। उनके बाद इस भावधारा का रूप धीरे-धीरे पल्लवित होता गया। प्रस्तुत लेख में काव्यगत इसी नवीन भावधारा के अध्ययन करने की चेष्टा की गई है।

प्रारंभ में यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी के वर्तमान युग के जन्मकाल में हमारे पास जो संपदा थी वह अधिकांश में प्राचीन काव्य-परिपाटी थी। उसमें भी शृंगार की परिपाटी विहित कविता का ही प्राधान्य था। कवियों की रचना-शक्ति अधिकतर रूढ़िग्रस्त और निष्प्राण राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य के माध्यम द्वारा आत्मगत भावोच्छ्वास में प्रकट हो रही थी। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए उनके पास उपयुक्त साधन थे और काव्यादर्श में अभी कोई विशेष परिवर्तन भी न हुआ था। परंतु देश की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार उनका यह काव्योद्रेक असङ्गत और अस्वाभाविक था। उस अवस्था में भारतीय नरेशों की दीनहीन दशा ने उस का गौरव और भी कम कर दिया था। धार्मिक महत्व भी कृत्रिम हो गया था। देश की रक्षा करने में असमर्थ देखकर जनता का राजसत्ता और धार्मिक महत्त्व में अविश्वास होना स्वाभाविक ही था। तो भी साहित्यिक परंपरानुकरणवश उक्त साहित्य की अभिव्यक्ति होती रही। महाकाल ने उसे जीर्णशीर्ण कर डाला था। कविगण उसकी मृत देह में नवप्राण संचारित करने का अनवरत परिश्रम कर रहे थे। अच्छा यही हुआ कि कवियों ने राधा-कृष्ण और नायक-नायिकाओं के तीव्र भँवर में नवयुगीन कविता की पतवार पकड़ रक्खी थी। उन्होंने भारत के दारिद्र्य और दुःखपूर्ण वास्तविक

जीवन की ओर ध्यान दिया। इससे उन्होंने अपनी और देश दोनों की रक्षा कर ली।

वर्तमान शताब्दी में गत महायुद्ध के बाद हिन्दी कवियों की भावनाएँ अंतर्मुखी हो उठी थीं। वे विषादमय परिस्थिति से संवलित होकर अपनी नाना प्रकार की अतृप्त आकांक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति में लगे हुए थे। उनका अपने चारों ओर बसे संसार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। पक्षी की भाँति वे आनन्द के उल्लास में मग्न होकर गाते थे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि पक्षी के उल्लास का पक्षी-समाज के प्रति कोई लक्ष्य नहीं रहता, परंतु कवि का लक्ष्य पाठक समाज अवश्य रहता है।

अब इधर चार पाँच वर्षों से समाजवादी सिद्धांतों से प्रभावित होकर हिन्दी के कवि समाजवादी यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे हैं। उन्होंने पूँजीवादी प्रणाली के प्रति विद्रोह और शोषित वर्ग का गान आरम्भ कर दिया है। किन्तु ऐसे कवि अब भी मिलेंगे जो अपने एकाकी जीवन का क्रन्दन सुनाए बिना नहीं रहते।

वस्तुतः महायुद्ध के बाद की छायावादी रचनाओं को छोड़ कर आधुनिक हिन्दी कविता में प्रगति और यथार्थवाद का काल-विशेष के अनुरूप और भिन्न-भिन्न रूपों में सदैव अस्तित्व रहा है। सन् १८५० के बाद यह अस्तित्व एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में हमारे सामने मौजूद है। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यथार्थवाद का एकछत्र राज्य कभी नहीं रहा। उसके साथ अन्य अनेक प्रवृत्तियों की भी सृष्टि होती रही।

इस भूमिका के बाद आधुनिक काव्यगत यथार्थवाद के जन्म की पीठिका का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

हिंदी के यथार्थवादी काव्य का जन्म जिस काल में हुआ उस समय पश्चिमी दुनिया के सम्बन्ध से भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन हुए। युग की इस रुचि के प्रत्यावर्तन को भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने पूर्णरूप से साहित्य में प्रकट होने दिया। राजनीतिक दृष्टि से इस युग के प्रथम दशाब्द में ही भारत में विपत्ति के बादल छा गए। उस समय अँगरेज शासकों को भी अपनी परिस्थिति डाँवाडोल जँचने लगी। उन्होंने जैसे-तैसे विद्रोह की आग को शांत किया। इसके बाद सन् १८५८ में भारतवर्ष इंग्लिस्तान में स्थित सरकार के अधीन हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनांतर्गत भारतवर्ष की सभ्यता, संस्कृति और

जनता के आचरण तथा चरित्र को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। फलतः नई शासन-व्यवस्था के शुरू में जब महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया तो जनता ने उसका हृदय से स्वागत किया। उसमें महारानी ने शासन की ओर से उदारता, दया, धार्मिक सहिष्णुता और राजनीतिक प्रगति का आदेश दिया है। घोषणा के अनुकूल जब देश में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, फ़ौजी, कानूनी आदि सुधार किये गये तो शिक्षित भारतीयों ने उनकी अत्यन्त सराहना की। साथ ही इंगलैण्ड और भारत के बीच आने जाने की सुगमता हो जाने के कारण दोनों देशों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट होता गया। इंगलैण्ड की बनी हुई चीज़ों का भी देश में प्रचार बढ़ता गया। यहाँ के निवासी इंगलैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं और प्रणाली, वैयक्तिक स्वतन्त्रता आदि के स्वप्न देखने लगे। भारतीय नेता सरकार के सामने सुधारों की माँगें पेश करने लगे। सुधारों के जारी हो जाने पर वे अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते थे। लॉर्ड लिटन (१८७६–८०) ने दुर्भिक्ष-यातना दूर करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की और साथ ही भविष्य में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की रक्षा के लिए कुछ रुपया अलग निकाल कर रख दिया। नहरें, रेलें, सड़कें आदि बनवाने का भी उन्होंने प्रबन्ध किया। लॉर्ड एलगिन (१८९४–९९) और लॉर्ड कर्ज़न (१८९९–१९०५) के समय में लार्ड लिटन की निर्धारित नीति ने बड़ा काम दिया। लॉर्ड रिपन (१८८०-८४) ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' रद्द किया और सन् १८८३ में स्थानीय स्वायत्त शासन की नींव डाली। भारतीय सरकार की ऐसी अनेक उदार नीतियों के कारण देश उसको आदर और स्नेह की दृष्टि से देखने लगा था। उसने सरकार की उन्नतिशील आयोजनाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन बड़ी-बड़ी आयोजनाओं के साथ सरकार ने सड़कों, नहरों, रेल, तार, डाक विभागादि का प्रबन्ध किया। इन आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का प्रबन्ध हो जाने पर जनता ने अपार हर्ष प्रकट किया। यद्यपि अँगरेज़ी सरकार ने स्वार्थवश ही इस ओर ध्यान दिया था, तो भी परोक्ष रूप में देश को बहुत फ़ायदा पहुँचा। अँगरेज़ी भाषा के प्रचार के साथ इन यातायात के साधनों से न केवल भारतवर्ष में एकता का सूत्र स्थापित हुआ, वरन् भारत और इंगलैण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने की और भी गुंजायश हो गई। देश में औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति होने की आशा का संचार हुआ। राष्ट्रीय भावना का प्रचार होने में भी इन साधनों से अत्यन्त सहायता मिली।

वैसे तो हिंदू धर्म उसी समय शिथिल हो चुका था जिस समय अँगरेज़ों ने देश में अपना आधिपत्य स्थापित किया, किंतु युगावतार के समय भारतीय धर्म अपनी प्राचीन महत्ता को बिल्कुल ही खो बैठा था। जिस तत्त्वज्ञान के आगे संसार सिर झुकाता है ब्राह्मण उसी को भूल कर दान लेने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। लेकिन अज्ञान और अंध-परंपरा से संवेष्टित अशिक्षित भारतीय जनता अब भी उन के आगे माथा टेक रही थी। यह जाति की दुर्बलता और प्राणशून्यता का परिचय था। देश-काल के अनुसार सामाजिक और धार्मिक सुधारों की ओर किसी ने ध्यान न दिया। सच बात तो यह है कि मानसिक अध्यवसाय के रहने पर भी भारतवासी जड़ पदार्थ में परिणत हो गए थे। कूप-मंडूक ब्राह्मणों के नेतृत्व में सती-प्रथा, बाल-हत्या, नर-बलि, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, बहुविवाह, खानपान-संबंधी प्रतिबंध, समुद्र-यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, धार्मिक सांप्रदायिकता आदि कुरीतियों के अतिरिक्त, नशाखोरी, पर्दा, स्त्रियों की अशिक्षा और हीनावस्था आदि व्यामोहजन्य विनाशकारी प्रवृत्तियां समाज में घुन का काम दे रही थीं। इन में से कुछ तो समय की अबाध गति से देश में स्वयं पैदा हो गई थीं और कुछ विदेशी आक्रमण कारियों के कारण फैल गई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप की सभ्यता का आघात पाकर समूचा देश उत्तेजित हो उठा। ऐसी अवस्था में आत्मगरिमा भूली हुई हिंदू जाति में अभ्युदयाकांक्षा के उदय से नवजीवन का संचार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। आध्यात्मिकता के मूल तत्वों की भित्ति पर खड़े हुए जिस बृहत् हिंदू जीवन को काल-गति ने निस्तेज और निस्पंद कर दिया था उस के पुनरुद्धार की फिर चेष्टाएँ होने लगीं। इस्लाम और ईसाइयत का प्रचार निम्नश्रेणी के अशिक्षित समुदाय तक ही रह गया था। नवशिक्षा और नवीन सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलनों के कारण आत्मविस्मृत भारतीय जनसमूह को फिर से अपने धर्म का श्रेष्ठत्व मान्य हुआ।

भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही उच्च शिक्षा का प्रबंध था। लेकिन अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पश्चिमी सभ्यता के संपर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति से नई-नई परिस्थितियों का जन्म हो रहा था। ऐसी दशा में केवल धार्मिक शिक्षा से ही काम न चल सकता था। मिशनरी-यद्यपि स्वार्थवश-और राजा राममोहन राय इस ओर सराहनीय कार्य कर चुके थे। ईसाई मिशनरी तत्कालीन सामाजिक

कुरीतियों को सामने रखते हुए उन की तुलना में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। राजा राममोहन राय भारत के प्राचीन गौरव की याद दिला कर देश का सुधार करना चाहते थे। शासन-कार्य को दिन-पर-दिन पेचीदा होते हुए देख कर कंपनी ऐसी शिक्षा-पद्धति चलाना चाहती थी जिससे भारत में उस का राज्य सुचारु रूप से और दृढ़ता-पूर्वक चलता रहे। सन् १८१३ की शिक्षा-नीति का इसी लिए मैकॉले ने विरोध किया था। सन् १८५३ में चार्लस वुड और डलहौज़ी (१८४८-५६) शिक्षा-सुधार की बात सोचने लगे। चार्लस् वुड के आयोजनापत्र के अनुसार उच्च शिक्षा के साथ-साथ गाँव-गाँव में पाठशालाएं खोलने की व्यवस्था की गई। सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण वुड की शिक्षा-नीति का जैसा परिणाम होना चाहिए था वैसा न हुआ। सन् १८५७ में उच्चशिक्षा की ओर ध्यान दिया गया और कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। इन संस्थाओं में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया।

भारतवासियों ने इस नवीन शिक्षा-पद्धति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की। और यद्यपि पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन से देश की सामाजिक और धार्मिक अवस्था में बहुत कुछ सुधार हुआ, नए-नए विचारों और-राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ, देश की राजनीतिक एवं नैतिक उदासीनता दूर हुई और वह उद्योग-धंधों में दिलचस्पी लेकर आगे बढ़ा, तो भी इस शिक्षा का सम्यक् प्रभाव, विशेष कर नवयुवकों पर, अच्छा न पड़ा। देशी भाषाओं और साहित्य की अवहेलना से देश की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो गया। यह शिक्षा-पद्धति भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हुई। जिन महान् व्यक्तियों पर देश आज गर्व करता है वे इस शिक्षा-प्रणाली के कारण नहीं वरन् अपनी शक्तियों से उसकी बुराइयों को दूर करने के कारण आगे बढ़ सके। नहीं तो इस शिक्षा का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है और न उस समय छिपा हुआ था। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा अन्य अनेक तत्कालीन कवियों ने यदि एक ओर शिक्षा के प्रसार का स्वागत किया तो दूसरी ओर उस के विनाशकारी प्रभावों से बचने के लिए चेतावनी भी दी। इतने पर भी इस नवीन शिक्षा-प्रणाली से देश के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व उत्तेजना और जागृति पैदा हुई। हिंदी काव्य पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका।

भारतीय नवोत्थान के अंकुर वैसे तो सन् १८२८ में ब्राह्म समाज की स्थापना से जम गए थे, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में वह पल्लवित हुआ और साथ ही हिन्दी साहित्य से उसका प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हुआ। हिन्दी नवोत्थान के प्रतीक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। उनके प्रतिनिधित्व के माध्यम द्वारा हिन्दी और बंगला में जो आदान-प्रदान शुरू हुआ वह इसी का चिह्न था। ब्राह्मधर्म के आविर्भाव के बाद भारत में हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिये नए-नए प्रयत्न होने लगे। अनेक व्यक्तियों ने घरबार छोड़कर उसके हित अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया। इस काल के ऐसे महान् व्यक्तियों में जिनका हिन्दी से घनिष्ट सम्बन्ध है स्वामी दयानन्द (१८२४-८३) का नाम अत्यन्त गौरव के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना की। थोड़े ही समय में समस्त उत्तरी भारत में उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। अधिकतर सुधारवादी सनातन धर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी कविता की गतिविधि उसकी विचारधारा से प्रभावित हुए बिना न रह सकी।

नवशिक्षा, सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलनों के कारण देश में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। अब उसे अपनी पराधीनता खटकने लगी। इसी भावना के फलस्वरूप 'इलबर्ट बिल आंदोलन' (सन् १८८३) के बाद सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कॉंग्रेस की स्थापना से हिन्दी कवियों में अभूतपूर्व उत्साह और प्रसन्नता का संचार हुआ। आज कॉंग्रेस राष्ट्रीय संस्था है और भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए लड़ रही है। हिन्दी कवियों का उसे पूर्णरूप से सहयोग प्राप्त है।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की इस राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा देना आवश्यक था। वास्तव में इतिहास तत्कालीन हिन्दी यथार्थवाद को दोनों हाथों से आवृत्त कर रहा है। इतिहास और यथार्थवाद में सम्बन्ध होना स्वाभाविक धर्म है। उस समय कविता चित्रित करती है—देश और समाज की क्या अवस्था थी, क्या वास्तविक स्थिति थी और कविगण देश और समाज को किस ओर ले जाना चाहते थे, उसे किस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। विकासोन्मुखी नवीन हिन्दी कविता में यह सब कुछ हम आद्यंत स्पष्ट देख सकते हैं।

हिन्दी कविता की पुरानी धारा में भाषा की अलंकारिता और छंदों पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। भाव और रस की सत्ता का प्रसार

उसमें कम दृष्टिगोचर होता है। कवि का व्यक्तित्व भी अप्रकट रहता है। इस धारा के कवियों ने काव्य के बाह्य रूप में ही चमत्कार दिखाया है। भारतेंदु ही एक ऐसे कवि हैं जिन की प्राचीन शैली की कलाकौशल पूर्ण कविता में हमें आनंद रूप में रसामृत की प्राप्ति होती है। परंतु देश की पतितावस्था देखकर शिक्षित और सुहृद् समाज को कविता का प्राचीन आदर्श खटकने लगा था। पंडित मदनमोहन मालवीय 'मकरंदलांछन' कहते हैं—

भारत चारहुं ओर दुखी दुख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सों होय निवारन॥
सो सब दूरि रहै 'मकरंद' समै इन बातन में किहि कारन।
होय सो होय इहां नहिं भूलनों "राधिकारानी कदम्ब की डारन॥"[1]

यहाँ यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि 'यथार्थवाद के मूल में इसी दुःख और वेदना-सम्भूत लघुत्व और हीनत्व का अनुभव कर वास्तविक जीवन के अभावों का वर्णन करना है।' इस वेदना का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्ध हो सकता है। दुःख से परिपूर्ण मानव-जीवन के पतन, अभाव आदि से कवि की कल्याण बुद्धि का स्पर्श और सम्मिलन होने से ही यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि होती है। उस समय समाज के तुच्छ और अनादृत अंग भी साहित्य में गौरव को प्राप्त होकर कला की सुन्दरता से चिह्नित किए जाते हैं।

इस नवयुगीन कविता की सर्जना में उन लोगों का हाथ था, जिन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा पाई तो थी परन्तु जिन्हें भारतीयता और भारत की दुरवस्था का सदैव ध्यान बना रहता था। उन्होंने देखा कि समाज में रूढ़िप्रिय लोगों, पाश्चात्य सभ्यता के गुलामों, पुलीस और अदालती लोगों की लूट-खसोट, देश के स्वार्थी अमीरों, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल, कपट, भारत की निर्धनता आदि से देश की सामूहिक भलाई की कोई आशा नहीं थी। उनमें विचार-स्वातंत्र्य था और वे भारत की स्वाधीनता के स्वप्न देखने लगे थे। भारतेंदु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही देशभक्त कवि थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया। आर्यसमाज आंदोलन ने भी इस ओर योग दिया।

---

[1] साहबप्रसादसिंह द्वारा संपादित 'काव्यकला', प्रथमकिरण, सन् १८८५, पृ० १००

देश की परिवर्तित नवीन परिस्थिति में प्रादुर्भूत हिंदी कविता का अध्ययन करने से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जायगा कि कविगण प्राचीन निर्धारित मार्ग से अलग होकर गतिशील हो उठे थे। उनकी रचनाओं में हमें पीड़ित भारतीय जनता की पुकार सुनाई देती है। उनका यथार्थवाद मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय और सामाजिक है।

राजनीतिक क्षेत्र में प्रारम्भ से ही हिंदी कवियों ने उदार नीति का अवलम्बन ग्रहण किया। मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में भारत की राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। उस समय अशांति और अराजकता का राज्य था। धन जन की रक्षा करने वाला कोई न रह गया था। दिन रात की कलह और संधि-विग्रह से जनता में असन्तोष की भावना जागरित हो उठी थी। परन्तु साथ ही वह स्वयं कुछ कर सकने के लिये असमर्थ और अशक्त थी। ऐसे समय में अँगरेज़ों ने भी भारतीय नरेशों के आपस के संधि-विग्रह में पड़ कर और उससे लाभ उठाकर देश में अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर लिया। सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध के बाद निश्चित रूप से उनकी जड़ जम गई। भारतीय राज्यों की अपेक्षा अधिक सुख मिलने पर भी कम्पनी के शासनांतर्गत जनता संतुष्ट न रह सकी। उसकी आर्थिक नीति, लूट-खसोट, शांति और रक्षा के उपयुक्त साधनों के अभाव आदि से अत्याचार और दमन का दौर-दौरा बराबर जारी रहा। सन् १८५८ में देश के शासन सूत्र के इंगलैण्ड में स्थित सरकार के हाथ में चले जाने पर जनता को साँस लेने का अवसर मिला। एक प्रकार से देश में शांति का राज्य था। इसका यह अर्थ नहीं कि अँगरेजों ने अपनी राजनीतिक और आर्थिक नीति का परित्याग कर दिया था। स्वयं भारतेंदु ने एक कहमुकरी में चुभते हुए शब्दों में कहा है:—

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन-मन-धन मूसै॥
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन ? नहिं अँगरेज़॥[1]

परन्तु पारस्परिक कलह, अशांति, क्लेश और अराजकता से अपने को रक्षित पाकर भारतवासियों ने अँगरेज़ों के राज्य की मंगल कामना की। अपनी पराधीनता पर अश्रु-तर्पण करते हुए भी वे असमर्थ थे। अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति का विरोध करने का परिणाम वे सन् १८५७ की क्रांति

[1] 'नए ज़माने की मुकरी' (भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, पृ० ८११, सं. १९९१वि०,

के सम्बन्ध में देख ही चुके थे। साथ ही उनके राज्य की स्थापना से उच्च-वर्ग और मध्यमवर्ग की उच्चश्रेणी को विशेष लाभ पहुँचा। फिर हिन्दी कवि, जो इन्हीं वर्गों के थे, अँगरेज़ों के विरुद्ध कैसे आवाज़ उठाते। मुसलमानों के अत्याचार का आतङ्क अब भी भारतीय जनता पर जमा हुआ था। ऐसी हालतों में हिंदी कवियोंने जो कूटनीति धारण की वह बहुत कुछ स्वाभाविक थी। राजनीतिक भय अँगरेज़ों की विजय के आतङ्क का परिणाम था। स्वयं भारतेंदु हरिश्चन्द्र का कहना है:—

कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जो जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतबासी॥

इस भय के कारण ही वे सन १८५७ की क्रान्ति के विषय में सोलह पंक्तियों से अधिक कुछ न लिख सके। और जो कुछ लिखा भी है उसमें उन्होंने 'विद्रोहियों' को 'मूढ़' बताया है।

इन्हीं उपर्युक्त कारणों से हिंदी कवियों का राष्ट्रीय यथार्थवाद संवलित है। उन्होंने स्वतन्त्रता की आवाज़ उठाई है, परन्तु अधिकतर अँगरेज़ी सरकार के प्रति भक्ति प्रकट की है; उनके सामने राजनीतिक और आर्थिक उन्नति की माँगें पेश की हैं। वे चाहते थे कि काले-गोरे का भेद-भाव दूर होकर अँगरेज़ों और भारतवासियों के बीच बराबर का दर्जा और जन-सत्तात्मक शासन-प्रणाली स्थापित हो। उनकी रचनाओं में अँगरेज़ों की न्याय-प्रियता, ब्रिटिश विधान की प्रजातन्त्र-पद्धति में विश्वास, ऊँची शिक्षा, प्रेस कानून, देशी उद्योग धन्धों की उन्नति, अन्यायपूर्ण करों आदि का उल्लेख हुआ है। स्वतन्त्रता की पुकार लगाने वाले हिंदी के राष्ट्रीय कवियों की मनोदशा का इससे अच्छा परिचय प्राप्त होता है। उस समय जब कि अपना पथ-निर्माण वे स्वयं कर रहे थे, उनकी राजनीति को उपहास या घृणा की दृष्टि से देखना ठीक न होगा। वर्तमान पूर्ण स्वाधीनता की माँग की नींव उन्हों ने ही डाली थी। और फिर जब कि देश में अज्ञान, अविद्या, निर्धनता, नैतिक पतन तथा जनता में कुप्रवृत्तियों का प्रचार था। अँगरेज़ों से खुले मैदान स्वतन्त्रता के लिए लड़ना दुस्तर कार्य था, ऐसी हालत में उनसे लड़ता कौन और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर उसकी रक्षा कौन करता। इसलिये एक ओर तो वे अवसर मिलने पर जनता की भलाई की माँगें पेश करते थे; दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नतिके मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते थे। जुबिली, राजकुमारागमन, राजकुमार जन्मोत्सव आदि अवसरों पर वे राजभक्ति तो

प्रकट करते ही थे, साथ ही सरकार से अपनी माँगें पूरी करने की अपील भी करते थे। ब्रिटिश शासन-प्रणाली को भारतीय प्रजातन्त्र का रूप समझ कर वे भारत और ग्रेटब्रिटेन के समस्त हित-साधनों में सामंजस्य स्थापित करने लगते थे—यद्यपि दोनों बातें एक दूसरे की पर्याय न थीं। परन्तु समय की व्यापक शक्तियों ने तत्कालीन राष्ट्रीयता को यही रूप दिया था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरि औध', राधाकृष्णदास तथा अन्य अनेक कवियों में हमें इसी यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। उनका यह यथार्थवाद चार रूपों में प्रस्फुटित हुआ है। पहला, देशभक्ति और भारत की पराधीनता और तत्कालीन अधोगति पर क्षोभ। दूसरा, भारत के दुःख, दारिद्र्य और अँगरेजों द्वारा आर्थिक शोषण पर संताप। तीसरा, राजनीतिक एवं शासन-सम्बन्धी सुधारों और जनसत्तात्मक प्रणाली की स्थापना की माँग; ऐसी माँगों की पूर्तियों पर प्रसन्नता प्रकट करना। और चौथा, आपस का मतभेद और भेद-भाव भूल कर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये संगठित होना। इन भावों से अनुप्राणित रचनाओं द्वारा उन्होंने जनसाधारण में शंखध्वनि की।

सांस्कृतिक नवीनता के संदेश-वाहक आंदोलनों ने हिंदी के सामाजिक एवं धार्मिक यथार्थवाद को जन्म दिया। मोटे तौर से इन आंदोलनों का जन्म हम सन् १८२८ में ब्राह्म समाज की स्थापना से मान सकते हैं। कालांतर में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का वेग मंद पड़ गया था। नवोदित भावों और विचारों ने फिर से भारतीय जीवन का संस्कार करना आरंभ कर दिया। तरुण भारत ने राजनीतिक विषयों पर स्वतंत्र रूप से विचार और धर्म के विशुद्ध प्राचीन रूप की रक्षा करना सीखा। आर्य समाज के रहते हुए भी अनेक कवि रूढ़ि का मोह न छोड़ सके। उन्हों ने परंपरानुगत प्रचलित धार्मिक प्रथा का महत्त्व बनाए रखने की प्राणपण से चेष्टा की। अँगरेजी शिक्षितों की सनातनियों और समाजियों दोनों ने तीव्र आलोचना की। वे भारत की सभ्यता और संस्कृति से अनभिज्ञ थे और पश्चिमी बातों का अंधानुकरण करना चाहते थे। उधर सनातनी कवियों को दक़ियानूसी कहना भी ठीक न होगा। यदि स्वामी दयानंद सुधार के एक पहलू को लेकर चले थे, तो सनातनी भी समयानुकूल सामाजिक और धार्मिक सुधारों का पक्षपात कर दूसरे पहलू को लेकर चले थे। दोनों में सुधार और प्रगति की प्रवृत्ति पाई जाती है। भारतेंदु के पिता बाबू गोपाल

चंद्र और महाराज रघुराज सिंह अपने समय के प्रगतिशील व्यक्तियों में थे। स्वयं भारतेंदु पक्के वैष्णव होते हुए भी भारतीय पुनरुत्थान के उज्ज्वल रत्नों में से एक थे। उन की भांति सब कवियों ने अपने-अपने मतों और संप्रदायों का अवलंबन ग्रहण किया। परंतु जिस प्रकार तुलसी ने सांप्रदायिक विभिन्नता में सामंजस्य का सूत्र पिरोने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार नवीन यथार्थवादी हिंदी कविता के रचयिताओं ने हिंदूधर्म और हिंदूपन की परिधि के भीतर समस्त मतमतांतरों का ऐक्य स्थापित करने की चेष्टा की। भारतेंदु कृत 'जैन कुतूहल' की भावना सर्वत्र व्याप्त थी। इस के बाद वे धार्मिक अज्ञानता, अविद्या, नशेबाज़ी, जूआ, वर्ण-भेद, स्त्रियों की शिक्षाहीनता, विवाह के अवसरों पर अपव्यय, बहुविवाह, विधवा-विवाह-निषेध, बाल-विवाह, बाल-हत्या आदि प्रचलित कुरीतियों का मूलोच्छेदन करना चाहते थे। धार्मिक पाखंडों और कुप्रथाओं का उन्होंने सजीव चित्रण किया है। गौ, वेद-पुराणों की न्यायनिष्ठा, हिंदूकुल और ब्राह्मणों की मर्यादा की रक्षा करने के लिये उन्होंने देश की जनता का आह्वान किया है। अंगरेज़ी शिक्षित नवयुवकों के विदेशी हाव भाव, चाल-चलन, आचार-विचार और खानपान को देखकर उन्हें मर्मस्तिक पीड़ा होती थी, उन का सांस्कृतिक ह्रास उन्हें सह्य नहीं था। भाषा का प्रश्न भी उन के यथार्थवाद का ही एक अंग था। वास्तव मे उन्हें देश की ऐसी सम्यक् प्रगति जिस की जड़ भारत भूमि में ही जमी हो अत्यंत प्रिय थी।

वास्तव में नवीन आंदोलनों के–जिन में हिंदी कवियों ने सक्रिय भाग लिया था—फलस्वरूप उन में विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ और उन्हों ने परिपाटीविहित रूढ़िग्रस्त कविता को छोड़कर अपने चारों ओर की दुनिया को नई आँखों से देख कर उस का तथ्यपूर्ण चित्रण किया। उन की रचनाओं में भारत के ह्रास और पतन के साथ-साथ जीवन का यथार्थ चित्रण है। युग-परिवर्तन का कविता ने अनुकरण किया और भावी जीवन की स्वर्णरेखा अंकित की। काव्यत्व का अभाव, प्रचारात्मकता और सामयिकता—जिन का आजाना उस समय अनिवार्य ही था–उस में भले ही हो, परंतु उस में तत्कालीन भारतीय जीवन अभिव्यक्त हुआ है। उस में जीवन के अभाव और दुःख की अनुभूति का उल्लेख है। इस यथार्थवादी कविता में भारत की पतितावस्था के चित्रण के साथ-साथ उस प्राचीन गौरव का भी प्रस्फुटन हुआ है जब कि बड़े-बड़े शक्तिशाली प्रजापतियों को सत्य के पीछे अपने प्राण विसर्जन करने में तनिक भी संकोच न होता

था, जब कि यहाँ की सभ्यता फूली-फली थी और यहाँ के ज्ञान का प्रखर तेजपुंज देशदेशांतरों को प्रकाशित कर रहा था; भारत के उस महान् अतीत को याद कर कविगण मुग्ध हो जाते थे। उन्हों ने ऐतिहासिक सत्य का अन्वेषण किया है। धर्म और प्राचीन राजसत्ता से रक्षा न होते देख कर, उन को आडंबर और पतन से बचाते न देख कर, उन्होंने साधारण जन-समाज को लक्षित किया; उस में उन्होंने महानता देखी। उसी को संबोधित करते हुए उन्होंने क्षोभपूर्ण शब्दों में कहा—'सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सो यो'। समाज के इसी अंग को स्पर्श कर नवीन कविता यथार्थवाद के क्षेत्र में अवतरित हुई। वह मानवीय दुर्बलता को स्वाभाविक समझ कर आगे बढ़ी। जीवन में जो वैषम्य उत्पन्न हो गया था कवियों ने उस की वास्तविकता का अनुभव किया। यद्यपि वे नवीनता के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित न कर सके, तो भी उन्होंने वास्तविकता का चित्रण और प्राचीन के सामने नवीन का मूल्यांकन कर वस्तुस्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न किया। ऐसा करने में उन्हें अपने और समाज के अंतरतम में प्रवेश, पतितों और दलितों का मूल्य और प्रचलित त्रुटियों और कुरीतियों को अस्वाभाविक समझ कर आगे बढ़ना पड़ा। राष्ट्र की सामूहिक चेतना को जाग्रत करने का कार्य उन के लिये आवश्यक हो गया। अछूतोद्धार, स्वदेशी आंदोलन, राष्ट्रभाषा-प्रचार, मद्यपान-निषेध, ग्राम्य सुधार आदि जितने कार्य आज राष्ट्र की क्रियात्मक शक्ति को स्पंदित कर रहे हैं, उन को भारतेंदु तथा उन के सहयोगी उसी समय राष्ट्र की सामूहिक प्रगति और स्वतंत्रता की आकांक्षा की आधार-शिला बना चुके थे। आधुनिक हिंदी काव्य का यह प्रारंभिक यथार्थवाद अपने चारों ओर अभिन्नता और साधरणीकरण स्थापित कर विकासोन्मुख हुआ। ऐसा करने में वह इतिहास के अधिक निकट आ गया है। यथार्थवादी कवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयत्व का आदर्श अपने सामने रक्खा। यहीं वे इतिहासकार से भिन्न हैं।

इस प्रकार हिंदी कविता नवयुग के जन्म की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती हुई वर्तमान शताब्दी में अवतरित हुई।

साहित्य में यह द्विवेदी युग का समय आ गया था। इस काल में उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक कवि अपनी पुरानी प्रवृत्ति लेकर आए। परंतु प्रत्येक युग की समस्याएं भिन्न-भिन्न होती हैं। साहित्य उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर नवीन भावों को अभिव्यक्त करता है। साहित्य का मूल स्रोत समाज

ही है। साहित्यिक समाज में प्रचलित भावों और विचारों को अपनी हृदय-वृत्ति के नाना रसों में पगा कर उन्हें फिर मानुषी जगत को प्रदान कर देता है। वस्तुतः 'बाह्य जगत और मानवी कार्य-कलाप मनुष्य के अन्तर में प्रतिक्षण जो रूप धारण करते रहते हैं' उसी का प्रकटीकरण साहित्य में होता है। ऐसी दशा में साहित्य का चारों ओर के वातावरण पर निर्भर रहना भी सत्य है।

नवीन यथार्थवादी हिंदी कविता के जन्मकाल का इतिहास हम देख चुके हैं कि किस प्रकार शताब्दियों से पीड़ित जनता ने सुख-शांति की साँस ली, और किस प्रकार परिवर्तित परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नवीन आन्दोलनों की सृष्टि हुई और नवीन विचारों की नींव पड़ी। युगान्तर उपस्थित होने पर कविता उसकी विशिष्ट प्रवृत्तियों का वाहन बनी। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने जनसत्तात्मक विचारों की नींव डालकर देश को जाग्रत किया। तब देश को पराधीनता खटकने लगी और सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में दंभ और आडम्बर के विरुद्ध आन्दोलन का जन्म हुआ।

सन् १९०० के बाद का समय भी भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्व पूर्ण है। गत शताब्दी में राष्ट्र में जो आत्मसम्मान और गौरव की लहर फैली उसने इस काल में आकर प्रचण्ड वेग धारण कर लिया। पूर्वकाल की त्रुटियों और अभावों की पूर्ति हुई और सरकार की दमन नीति ने उग्र रूप धारण किया। उसके संघर्ष से भारतीय जीवन और भी निखर उठा। लॉर्ड कर्जन (१८९९-१९०५) ने अपने राजत्वकाल में ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति बढ़ाने के लिये जो कुछ किया उससे बहुत जल्दी देश में अशांति और विद्रोह के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। राष्ट्रीयता का वृक्ष पुष्ट होकर बढ़ने लगा। लॉर्ड कर्जन को भारतीय राष्ट्रीय विचारों से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उन्होंने लोकमत का आदर भी न किया। सन् १९०४ में 'यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट' पास हुआ जिसका भारतवासियों ने प्रबल विरोध किया। सन् १९०५ में बंग भंग ने बँगला-भाषा-भाषियों में व्यापक असन्तोष फैला दिया। बंगाल की जनता ने सरकार के इस कार्य को अपनी राष्ट्रीयता, भाषा और संस्कृति पर आघात समझकर एक ज़बर्दस्त आन्दोलन शुरू कर दिया। सरकार ने भी उसका दमन करने में कोई कसर न उठाई परन्तु दमन–नीति का उल्टा असर हुआ। बंगाल का प्रश्न सारे भारत का प्रश्न बन गया। देश में स्वदेशी आन्दोलन पूर्ण रूप से

व्याप्त हो गया। कांग्रेस में तिलक के नेतृत्व में उग्रदल का जन्म हुआ। सन् १९०८ में स्वदेशी आन्दोलन ज़ोर से हुआ और खुले तौर पर सरकार का विरोध होने लगा। क्रांतिकारियों की अनेक गुप्त समितियाँ बन गई जो सरकारी अफ़सरों को नष्ट करने का उपाय सोचने लगीं। इन समितियों के मूल में धार्मिक राष्ट्रीयता की भावना मुख्य थी। सन् १९०५ में रूस और जापान के युद्ध में जापान की विजय हुई जिससे एशिया की जातियों में आत्म विश्वास और वीरता की नव जागृति का प्रचार हुआ। सन् १९११ में बंग-विच्छेद की नीति जब उठा ली गई तो भारतवासियों ने उसको नौकरशाही पर विजय का चिह्न समझा। गत महायुद्ध में भारतीय सेना ने युद्धक्षेत्र में जिस अद्भुत वीरता, धैर्य और सहनशीलता के साथ सफलता प्राप्त की उससे पश्चिमी देशों में उसका अत्यन्त मान हुआ। इन अन्तिम तीन घटनाओं ने भारतीय मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। उनमें आत्माभिमान, आत्मगौरव और आत्मसम्मान की प्रबल चेतना हुई। साथ ही सन् १९१५-१६ में तिलक और श्रीमती बिसेंट के होमरूल सम्बन्धी विचारों ने भी जनता में काफी उत्तेजना पैदा की। सन १९१४ मे यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया जो संसार के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। भारतवर्ष भी उसके प्रभाव से वंचित न रह सका। सन् १९१९ के बाद जलियानवाला बाग़ की रोमांचकारी घटना हुई और उसी समय महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीतिक मंच पर पदार्पण किया। उनके नेतृत्व में तभी से देश ब्रिटिश साम्राज्य की महाशक्ति से अहिंसात्मक युद्ध कर रहा है। वे पराधीन देश के सबसे बड़े राजद्रोही हैं। गत बीस वर्षों से उनकी सत्य और अहिंसा की विचारधारा ने देश में अभूतपूर्व सक्रियता और शक्ति-मत्ता का परिचय दिया है। यह युग गांधी-युग है। उनकी विचार-धारा का विस्तृत विश्लेषण करने के लिये यह स्थान उपयुक्त नहीं है। संक्षेपतः, उनकी विचार-पद्धति का नैसर्गिक झुकाव यथार्थवादी आदर्शवाद की ओर है। वे भारत की प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यता और संस्कृत के बीच एक कड़ी हैं हमको वे बरबस भारत के अतीत गौरव की ओर खींच ले जाते हैं। वे आध्यात्मिक योद्धा हैं। उनके विचार खंड-खंड करके नहीं देखे जा सकते। राजनीति, समाज, धर्म, अर्थ, उद्योग आदि उनके लिए परस्पर एक दूसरे से अभिन्न रूप से गुंथे हुए हैं।

इस काल में किसी विशेष सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन का जन्म न हुआ। गत शताब्दी से चले आ रहे आन्दोलनों का ही प्रचार रहा। साथ

ही वे अपनी अपूर्णता को दूर कर पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हुए। इतना होने पर भी दोनों कालों की अवस्थाओं में अन्तर है; उसी प्रकार जिसप्रकार कि मनुष्य की अविकसित, अर्द्धविकसितऔर पूर्णविकसित अवस्थाओं में अन्तर रहता है। राजनीतिक उग्रता के साथ धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी प्रचण्डता का प्रवेश हुआ। आर्यसमाज का कार्य बड़े ज़ोरों के साथ आगे बढ़ने लगा। वैदिक काल के स्वर्ण चित्र देश के सामने उपस्थित किये जाने लगे। इसी प्रकार विवेकानंद, रामकृष्ण, रामतीर्थ, सिस्टर निवेदिता, और थियोसोफ़िकल सोसायटी ने भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की महत्ता का वर्णन किया। स्वातंत्र्याकांक्षा और नवीन राष्ट्रीयता ने देश के जीवन में सर्वतोमुखी सक्रियता को जन्म दिया। सौ वर्ष पूर्व पाश्चात्य विचारों ने भारतीय जीवन में जो आधिपत्य जमाया था यह सब उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप था। जापान की विजय, बंग-भंग-आन्दोलन आदि ने जो कुछ भी पाश्चात्य था उसके प्रति घृणा के बीज बोए। पाश्चात्य और पूर्वी सामाजिक और धार्मिक पद्धतियों में स्पष्ट रूप से अलगाव दिखाई पड़ने लगा। शक्ति-संगठन के लिए पूर्वोक्त सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर करने के लिए अथक प्रयत्न होते रहे। यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि वर्तमान शताब्दी में मुसलमानों का वह विरोध नहीं रहा जो पिछली शताब्दी के हिंदुओं में प्रचलित था। असहयोग आंदोलन के बाद तो मुसलमानों के विरोध का हिंदी में नाम-निशान तक नहीं रह गया। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंदू-मुसलमान दंगों में हिंदुओं ने जो असङ्गठन और दौर्बल्य दिखलाया उस पर आर्यसमाजी हिंदी लेखकों में खीज बराबर पाई जाती है। दिल्ली के लेखकों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से विद्यमान है। पहले से चले आ रहे अछूतोद्धार, स्त्रियों की समानता, ग्राम्य सुधार, आदि के साथ चर्खा, खद्दर, हिंदू-मुस्लिम एकता आदि आंदोलनों ने गाँधी जी के नेतृत्व में और भी प्रबल रूप धारण कर लिया है।

अस्तु, वर्तमान शताब्दी में हम तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ पाते हैं—पहली, असहयोग आंदोलन से पहले की प्रवृत्ति, दूसरी, असहयोग आंदोलन के बाद की प्रवृत्ति और तीसरी, आर्य समाज की प्रवृत्ति। इन में स्वातंत्र्याकांक्षा, अछूतोद्धार स्त्री-शिक्षा और उन के समाधिकार, समष्टि की भावना और प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर गर्व समान रूप से तीनों प्रवृत्तियों के लक्षण हैं। इन तीनों ही प्रवृत्तियों से आदर्शवाद को प्रोत्साहन

मिला। अलग-अलग विचार करने पर पहली प्रवृत्ति को हम उन्नीसवीं शताब्दी के विचारों का परिवर्धित रूप कह सकते हैं। उन दिनों पुरातत्व के गौरव का ही दिनरात बिगुल बजा करता था। हम पहले कितने महान थे और अब कितने क्षुद्र हैं। आर्य समाजी प्रवृत्ति ने अपने को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों तक ही अधिक सीमित रखा। असहयोग आंदोलन के बाद की प्रवृत्ति पर गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव है। सत्य, अहिंसा, नैतिकता, मनुष्यमात्र की समकक्षता, अकृत्रिम और सादा जीवन, खादी, चर्खा, ग्राम्यसुधार, दलितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, कट्टरता और अंधविश्वास के प्रति सक्रिय विरोध, विस्तृत दृष्टिकोण आदि ने नवोत्थित युग में सक्रियता, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान पैदा कर राष्ट्र का पुनर्निर्माण शुरू किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गांधी जी की विचारधारा खंड-खंड करके नहीं देखी जा सकती। उनकी अपनी राजनीति से सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र भी अछूते नहीं बचे। साथ ही मूलत: यथार्थवादी होते हुए भी उन की नीति आदर्श-वाद की पोषक है। असहयोग आंदोलन से पहले साहित्य इतना सार्वजनीन और जनसाधारण के निकट नहीं था जितना कि अब है।

उपर्युक्त पीठिका को ध्यान में रखते हुए यदि हम वर्तमान युग की हिंदी कविता की समीक्षा करें तो हम को ज्ञात होगा कि उस ने अपनी पिछली यथार्थवादिता को खो दिया है—बिल्कुल तो नहीं खो दिया वरन् अपेक्षाकृत उस का झुकाव आदर्शवाद की ओर अधिक रहा है। जिस प्रकार मैदान में आते ही गंगा की धारा के विस्तृत हो जाने पर उसका आवेग मंद पड़ जाता है, उसमें पहाड़ी जीवन का तीव्र प्रवाह नहीं रह जाता, उसी प्रकार आधुनिक हिंदी कविता ने अपना मूल यथार्थवाद खो दिया है। अब किनीन की गोलियों पर शक्कर चढ़ी हुई मिलती है। यह तो ठीक है कि उस में नवयुग के व्यापक परिणाम के अंतर्गत नैतिकता की नींव पर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक भवन खड़ा करने की कल्याण-भावना विद्यमान है, व्यक्तिगत जीवन से निकलकर कविताने पहले की भाँति समाज और राष्ट्र को अपनी बाहुओं में भर रक्खा है, कवियों का भारतीय जीवन के पतन और अभाव का दुःख और वेदनापूर्ण अनुभव है, उस में वास्तविक जीवन की अनेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न है, दलितों और पतितों में कवि महानता देखते हैं, अस्वाभाविकता, आडंबर और दंभ का वे सक्रिय विरोध करते हैं, संक्षेप में कवियों ने

जीवन को सर्वतोमुखी और वास्तविक रूप में देखा है और उसके अभाव का अनुभव किया है, परंतु उनका झुकाव प्राचीन गौरव और ऐश्वर्य की ओर अधिक है। आत्म सम्मान, आत्मनिर्भरता आदि का संदेश देते हुए भी उन्होंने अपने को अपमानित, पीड़ित और शृंखलाबद्ध समझकर राम, कृष्ण, भीष्म, प्रताप, गोविंदसिंह, शिवाजी आदि की स्मृति-गोद में मुँह छिपा लिया है। उन के यथार्थवाद पर अतीत का सुनहरी पर्दा पड़ जाता है-- पर्दे के पीछे की चीज़ दिखाई अवश्य देती रहती है। आर्य-समाजी कवियों ने भी धार्मिक और सामाजिक रीति-कुरीतियों पर आक्षेप करते हुए भी वैदिक-काल का गान किया है। यहींपर जापान-विजय, बंग-भंग-आन्दोलन, सिस्टर निवेदिता, ऐनी बिसेंट तथा अन्य विदेशियों द्वारा भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का गुणगान, आर्य समाज का पुरातनत्व की महिमा पर ज़ोर और गांधीजी का आदर्शवाद ध्यान देने योग्य है। असहयोग आन्दोलन के बाद की काव्य-रचनाओं में अवश्य भारत के अतीत का गुणगान कम है, अधिकतर उनमें वर्तमान अभाव का ही कलापूर्ण चित्रण है। परंतु जिस प्रकार गाँधीजी का यथार्थवाद आदर्शोन्मुखी है, उसी प्रकार उनका अंत भी आदर्शवाद में ही होता है। प्रायः सभी कवि दुःखित होकर अर्द्धमृत या मृत देह पर अश्रुवर्षण करते-करते दीवार पर टँगे उसके पहले सुन्दर चित्र को देखने के लिए दृष्टिविक्षेप करते हैं, और उस के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर बार-बार उधर ही देखने लग जाते हैं; वास्तविक से अवास्तविक-अतीत-की ओर, देश के प्राचीन सांस्कृतिक जीवनकी ओर उनका ध्यान चला जाता है। किंतु उनके आदर्शवाद और यथार्थवाद में पूर्ण विरोध भी नहीं है; उनके आदर्शवाद में यथार्थवाद को देखने की केवल ध्वनि बनी रहती है। इस विषय में हम उनका श्रेष्ठत्व माने बिना नहीं रह सकते।

संक्षेप में भारतेंदुकालीन कवियों ने 'हथेली को अनुवीक्षण यंत्र से देखा और उसके चक्र, त्रिशूल, मत्स्य आदि की परीक्षा की। द्विवेदी-युग के कवियों ने उसे दूरवीक्षण यन्त्र से देखा और उसकी रेखाओं और अद्रियों के गीत गाने में लग गये।'

सन् १९२०-२१ के बाद जब वेदनामयी आंतरिक भावनाओं या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में छायावाद का जन्म हुआ। अन्य कवियों में जीवन के यथार्थ का चित्रण कर जो समाजहित की भावना थी वह छायावादी कवियों में लुप्त हो गई और वैयक्तिकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।

अब तक हमने जितनी बातें कही हैं उनका प्रगति से गहरा संबंध है। कवियों की रचनाएँ कहाँ तक प्रगतिशील हैं, इसका विचार तो उनके ग्रन्थों की विशेष विस्तृत आलोचना के समय ही किया जा सकता है। किंतु उनकी रचनाओं का अध्ययन कर सम्यक् रूप से देखने पर यही कहा जा सकता है कि उनके भावों और विचारों; छन्दरचना और रचनाप्रणाली; और रससृष्टि के अंदर रूढ़ि की परतंत्रता के विरुद्ध एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। नवयुग का विद्रोह सर्वतोमुखी है। कवियों ने पराधीनता की बेड़ी को तोड़ डाला और बहुत दिनों से जीर्णशीर्ण पुरातन के मोह की जो हमारे दिल में एक भावशृंखला चली आ रही थी, कवियों ने साहसपूर्वक उसके बंधन को भी तोड़ डाला। जीवन की भीरुता छोड़कर कवियों ने त्याग, संयम और निग्रह से स्वतःस्फूर्त शक्ति की उद्दाम लीला से अपने अन्दर की प्रसन्नता का अनुभव कर ऐश्वर्य और महिमा के प्रशस्त मार्ग का निर्माण किया है। बहुत दिनों का ऐश्वर्य टूट-फूट कर उनके चारों ओर धूलिसात् हो रहा है, उसके स्थान पर उन्होंने सामान्य भिखारी को देवता की श्रेणी में बिठाकर, दम्भ और पराभव को श्मशान में फेंक कर, नवीन महिमा की आविर्भावना की है। गर्जन करते हुए वे आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। क्या उन्हें कोई रोक सकता है? समस्त देश में इस प्रकार का आयोजन चल रहा है। उनके सामने उनकी स्थिति और गति के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा है। उनके भावों का प्रवाह एक से दो और दो से शतधा होकर प्रवाहित है; कवियों की मानस-सृष्टि का समस्त देश में विस्तार हो रहा है। जब उसे निकट से देखते हैं तो मालूम हो जाता है कि यह युग की स्फूर्ति, जागृति, प्रगति एवं शक्तिमत्ता है।

एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित हुए कुछ लोगों के मुँह से बहुधा यह सुना जाता है कि चार-पाँच वर्ष से पूर्व की काव्य रचना प्रगतिशील नहीं है—अतएव वह कविता के नाम से पढ़े जाने योग्य नहीं!

परंतु प्रगतिशीलता का यह ग़लत प्रयोग और उसे संकुचित दृष्टिकोण से देखना है। भावों और विचारों के मेल से, अनेक परिवर्तनों के बीच, नवीन मानसिक सृष्टि हुआ करती है, साहित्य भी उसी के बीच में से प्रवाहित हुआ करता है। ऐसा मेल न हो, नवीन मानसिक सृष्टि न हो, यह कभी नहीं हो सकता। काल की भावनाओं के घात-प्रतिघात से हमारा मन अवश्य जाग्रत होता है। भावों के मेल से जो सृष्टि होती है उस का स्वरूप यदि तुरंत नहीं तो कुछ समय बाद हम अवश्य स्पष्ट देखेंगे।

साहित्य नए स्वरूप को धारण कर अवश्य सत्य को प्रकट करेगा। भाव-जगत् में स्थायित्व और पुनरावृत्ति नहीं होती, हो भी तो वह अस्थिर और मिथ्या होगी।

युगधर्म का अनुसरण करना ही प्रगति है, अतएव वह सापेक्ष है, पार्थिव है। परंतु युगधर्म को संवेष्टित करते हुए भी उस से ऊपर उठ जाना, भावना की सत्ता का अनंत काल के लिए प्रसार करना, भगवान् की आनंदमयी सृष्टि को प्रतिध्वनित करना, यह अमरत्व है।

भारतवर्ष में एक बार सन् १८२८ में जो नवचेतना हुई थी उस ने आलोच्य काल में प्रबल रूप धारण कर लिया। जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार चेतनता नाना प्रकार और रूपों में अभिव्यक्त हुई। पीड़ित मानवता का आर्तनाद सुन कर भारतेंदु ने एक नवीन काव्य-धारा की अवतारणा की और भगीरथ के समान उसे एक विशेष मार्ग से ले गए। इस युग भावना के समस्त देश में व्याप्त हो जाने पर जिस साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ वह जनसमाज के लिए गौरव का साहित्य है। भारतेंदु, बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, बद्रीनारायण चौधरी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरण सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, राथूराम शङ्कर 'शर्मा, माधव शुक्ल, सुभद्राकुमारी चौहान तथा अन्य अनेक कवियों ने इसी युग भावना को जिस में गांधी-युग की भावना भी शामिल है--काव्य में व्यक्त किया है। अपनी-अपनी चित्त-वृत्ति और समय के अनुसार उन सब ने काव्य को नवीन रूप देकर सत्य को प्रकाशित किया है। उन को अप्रगतिशील कहना असत्य का प्रचार करना है।

भाषा, और छंद की दृष्टि से तो छायावादी कवि भी प्रगतिशील हैं।

इधर सन् १९३६ के बाद से हिंदी कवियों ने समाजवादी भावना से प्रेरित होकर किसानों और मजदूरों का राग आरंभ किया है। उस में वर्ग-युद्ध, संघर्ष और असंतोष की भावना प्रधान है। ये कवि अपने को 'प्रगतिशील' कहते हैं। वे कम्यूनिस्ट रूस से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उन का कहना है कि जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में किसानों और मज़दूरों का शोषित वर्ग या प्रोलेतारियत शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर अपना एकाधिपत्य (डिक्टेटरशिप) स्थापित करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य में भी पूंजीवादी और मध्यमवर्गीय सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रति कवियों को विद्रोह करना चाहिए और कलात्मक रचना में शोषित वर्ग को स्थान देना चाहिए। उनकी नीति हिंसा, प्रतिशोध और पाशविकता की पोषक है।

हिंदी काव्य में यह नवीन आंदोलन समाजवादी यथार्थवाद ('सोशलिस्ट रियलिज्म')को लेकर चलता है। परंतु उस में अभी बहुत-सी कमज़ोरियाँ हैं। यथार्थवादी होते हुए भी उस में काल्पनिक और आदर्शवादी भावोच्छ्वास ही अधिक पाया जाता है। साथ ही दुरूहता और अस्पष्टता भी उस में बुरी तरह घुसी हुई हैं। ये 'प्रगतिशील' कवि अब तक छायावादी थे। अब वे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हैं। और ये कमज़ोरियाँ उस समय तक रहेंगी जब तक वे दूर से बैठे-बैठे ही शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करना न छोड़ देंगे। दूसरे, कम्यूनिस्ट रूस में जिस आंदोलन के फलस्वरूप इस यथार्थवाद का जन्म हुआ उस का अभी हमारे देश में अभाव है। कवियों ने अभी उस का अनुभव नहीं किया। इस लिए उन में उल्लास और उत्साह या यों कहिए कि प्रेरणा की कमी है। जो कुछ वे लिखते हैं पुस्तकों से अध्ययन करने के बाद लिखते हैं। महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर वे अपने मन की सीमित परिधि में ही कल्पना-रंजित सुनहरे स्वप्न देखने लग जाते हैं। उन की अपनी विचारधारा के अनुसार भविष्य में मानव-समाज कैसा होगा, इस की रूपरेखा के विषय में उन के विचार अस्थिर और अस्पष्ट हैं। फलत: उन की रचनाओं में भ्रांति, अनर्गल प्रलाप, मनोवैज्ञानिक उलझनें, हृदय की सच्ची अनुभूति का अभाव आदि दोष काफ़ी मात्रा में पाए जाते हैं। शोषित वर्ग के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित न हो सकने के कारण वे अपनी मध्यमवर्गीय प्रवृत्तियों का निराकरण भी पूर्ण रूप से नहीं कर पाए। हिंदी कविता के इस आधुनिकतम यथार्थवादको वास्तविक रूप में 'प्रगतिशील' होने के लिए इन तथा अन्य अनेक कमज़ोरियों से बाहर निकलना पड़ेगा।

छायावादी जीवन के अपवाद स्वरूप के बाद आधुनिक हिंदी कविता ने जो यथार्थवाद ग्रहण किया है वह भारतेंदु द्वारा प्रतिष्ठित यथार्थवाद की परंपरा में ही है—यद्यपि उसका रूप और ध्येय उससे (भारतेंदु द्वारा प्रतिष्ठित से) भिन्न हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में तथा कला की परख की दृष्टि से 'प्रगतिशील' कवियों के निकट कम्यूनिस्ट रूस के विवेचकों द्वारा प्रतिष्ठापित समाजवादी यथार्थवाद काव्य-विवेचना की रीढ़ बन रहा है। इसलिए संक्षेप में उसके विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है।

सोवियत् शासन की प्रारंभिक अवस्थाओं के बाद सन १९३२में साहित्य-समाज की अभिरुचि 'परिष्कृत' करने या सुधारने का प्रयत्न किया गया।

उसके फलस्वरूप अखिल सोवियत लेखक संघ की स्थापना हुई। संघ के विधान के अनुसार उसका प्रत्येक सदस्य सोवियत् सरकार की राजनीति का अनुयायी रहेगा और अपनी रचनाओं में समाजवादी यथार्थवाद को कला का माप दंड बनायेगा। समाजवादी यथार्थवाद का ध्येय है अंतर्राष्ट्रीय शोषित वर्ग के विद्रोह से पूरित ऊँची कलात्मक कृतियों की रचना कर समाजवाद की शानदार विजय दिखाना और कम्यूनिस्ट दल की महान विद्वत्ता और वीरता प्रतिबिम्बित करना....'। कहना न होगा कि सन् १९२९–३२ की नीति की अपेक्षा यह नीति कहीं उदार है। तो भी सन् १९२५ के प्रस्ताव के अनुसार उसमें भी सोवियत् राजनीति का अनुयायी होने का प्रतिबन्ध बराबर लगा हुआ। संसार में सोवियत् रूस ही एक ऐसा देश है जहाँ लेखकों पर एक-सी साहित्यिक मनोवृत्ति और विचारधारा लादने का प्रयत्न किया गया है। उस पर भी आश्चर्य यह है कि समाजवादी यथार्थवाद नामक साहित्यिक विधान स्वयं लेखकों के मस्तिष्क की उपज नहीं, वरन उनके उन राजनीतिक नेताओं की देन है जिनका साहित्य से कभी सम्बध नहीं रहा। अगस्त सन् १९३४ के अखिल सोवियत् लेखक संघ के अधिवेशन में स्तालिन ने 'समाजवादी यथार्थवाद' शब्द का आविष्कार किया था। तभी से वहाँ के लेखकों ने उसे अपना लिया। परन्तु कम्यूनिस्ट साहित्यिक विवेचक अभी तक उसके आशय और अर्थ के विषय में स्पष्ट नहीं हैं। यथार्थवाद को तो वे समझते हैं। समाजवादी यथार्थवाद का प्रश्न आने पर वे सन् १९२५ वाली मनोवृत्ति को लेकर आगे बढ़ जाते हैं। स्वयं लेखकों का उसके वास्तविक रूप के विषय में मतभेद है। समाजवादी यथार्थवाद के लेखकों में शोलोखोव, यासेन्सकी, जोशेन्को, कतेव आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु सोवियत् साहित्य के इतिहास लेखकों का मत है कि समाजवादी यथार्थवाद के विषय में उनकी रचनाओं से पृथक्-पृथक मतों का निर्णय होता है। समाजवादी यथार्थवाद के स्थान पर उनकी कृतियों में बाल्ज़क तथा अन्य यूरोपीय साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रभाव समान और स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

वास्तव में समाजवादी यथार्थवाद आन्दोलन का ध्येय साहित्य को राजनीति का अनुचर बनाना है। इस दृष्टि से, जैसा कि हरबर्टरीड का मत है, कम्यूनिस्ट रूस और फ़ाशिस्ट जर्मनी में कोई अन्तर नहीं है। कम्यूनिस्ट रूस में लेखकों और कवियों को श्रमजीवियों की श्रेणी में ही परिगणित किया जाता है, यह ठीक है। परन्तु उनको साधारण श्रमजीवियों की हैसि-

यत से देखना, उनको एक विशेषराजनीतिक कार्यक्रम के खूँटे से बाँधने का प्रयत्न करना हास्यास्पद ही नहीं, साहित्य के लिये निश्चय रूप से घातक है। इसलिये कवियों पर केवल अर्थ-शास्त्र के नियम लागू नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में भाव-परम्परा, संस्कृति, काल-प्रवाह आदि विषय भी विचारणीय हैं। साहित्य में समाजवादी या अन्य किसी भी विनश्वर राजनीतिक कार्य-क्रम का ज्यों का त्यों अनुकरण करना साहित्य के लिए कभी श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हो सकता। कवियों और लेखकों को तो जीवन का अर्थ, मानव-हृदय, मानव-चरित्र, और उनसे एक अज्ञात शक्ति की सृष्टि से जो आनन्द की वीणा अहर्निश झंकृत होती रहती है, उनकी यह चिरंतन चेष्टा ही उपलक्ष्य मात्र है। साहित्य और कला के इस आनन्दमय स्वरूप को स्वयं मार्क्स मानता था। ऐसा साहित्य किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, किसी एक राज-नीतिक दल का नहीं, वरन् सार्वजनीन है। वैसे भी किसी युग के वाह्य कार्यकलाप का इतिहासकार की भाँति वर्णन करना साहित्य का कार्य नहीं है। इस वाह्य कार्य-कलाप के पीछे, अंतःसलिला सरस्वती की भाँति, छिपे हुए युग धर्म या आदर्श के सृजन करने की साहित्य में चेष्टा होनी चाहिए।

समझ में नहीं आता कि कलाकार या कवि किस प्रकार अपने को राजनीतिक अंकुश से चालित होने पर बाध्य कर सकता है। उस के अपने काल के राजनीतिक वाद-विवादों में पड़ने से, 'बूर्ज्वा कल्चर' या 'प्रोलेतारियन कल्चर' स्थापित करने के झमेले में पड़ने से, राज्य की किसी अस्थिर संगठित शक्ति के सामने सिर झुका कर चलने से-अपने साहित्यिक मूल्य को नीचे गिरा देना होगा, अपने व्यक्तित्व का बलिदान देना होगा। ऐसा किये या हुए बिना रह नहीं सकता। किसी अनुचित अनुशासन या दबाव के सम्मुख नतमस्तक होने की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में अपना बलिदान कर देना कहीं अधिक मानवोचित है। कवि को अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिए। उसका कर्त्तव्य समग्र मानव जाति की चिरंतनता को अपने अन्तर्लोक के प्रकाश से प्रकाशित करना है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि कलाकार या कवि का व्यक्तित्व किसी एक शक्ति से निर्मित नहीं होता, वरन् वह जातीय, राष्ट्रीय, वर्गीय आदि कई शक्तियों के प्रभाव के सम्मिश्रण से बनता है। ऐसा व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकता है। परन्तु इतना निश्चित है कि उसका अपना व्यक्तित्व

है जो उसकी कृति में सदा अभिव्यक्त होता रहता है। जहाँ उसका व्यक्तित्व नष्ट हुआ, उसकी कला उच्च पद से च्युत हो जाती है।

कहने का यह तात्पर्य नहीं कि कवि पीड़ित मानवता से विमुख हो जाय। परंतु उसको अपने और जनसाधारण के बीच सहानुभूतिपूर्ण व्यवधान रखना चाहिए—'कल्पना के काच का पारदर्शक स्वच्छ व्यवधान'। इस से एक दूसरे को पहिचानने में कोई रुकावट नहीं पड़ सकती। तभी वह अपने निजत्व की रक्षा और समाज का मनोरंजन करते हुए, और युगधर्म को स्थान देते हुए कला-संबंधी शाश्वत तत्वों की सृष्टि कर सकता है।

परन्तु राजनीतिक को कवि का यह रुख अच्छा नहीं लगता। वह उसको भी राजनीति के दल-दल में फँसा कर एक खास नमूने की रचना करने के लिये बाध्य करना चाहता है। इसका परिणाम भयावह होने की आशङ्का है।

कम्यूनिस्ट रूस के दूरदर्शी विचारक इस भयावह परिणाम का कुछ वर्ष पहले ही अनुभव करने लगे थे। आज वहाँ के लोग अपनी शैशवावस्था की मनोवृत्ति के विरुद्ध झुक रहे हैं। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में समाजवाद के सिद्धांत को मानते हुए वे साहित्य और कल्पना के क्षेत्र में व्यक्ति की निजी सत्ता को स्वीकार करने लगे हैं।

वह प्रवृत्ति जो कुछ समय पहले मनु की अंधभक्ति कराती थी, आज कम्यूनिस्ट रूस का अंधानुकरण करा रही है। आशा है बहुत शीघ्र हिंदी कवि और लेखक कला और साहित्य को रंगीन दृष्टिकोण से देखना छोड़कर उनके मूल सिद्धान्तों को पहचानेंगे।

युगवाणी का अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान है। स्थायी और उच्च श्रेणी के साहित्य के लिए युग-युग की वाणी की, 'मानस' और 'कामायनी' की आवश्यकता है। सत्य के आनन्द और अमृत रूप की खोज में साहित्य के सौन्दर्य मूलक, रसावेग और भावुकता पूर्ण चिह्नों को गाड़कर मानवता को अपनी ओर इंगित करना ही काव्य का लक्ष्य है। ये चिह्न चिरंतन और शाश्वत हैं। साहित्य को किसी विशेष जाति, विनश्वर राजनीतिक कार्यक्रम या विचारधारा से बाँधना उसे ग्राम्य-भाव से देखना है। इस संकीर्णता को हटाकर विश्व-साहित्य में विश्व-मानव को देखना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। यही साहित्य का राजपथ है।



हिंदी गद्य का विकास

आधुनिक समय में प्रेस का प्रचार हो जाने से हम मुद्रित ग्रन्थों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर जीवन सुखपूर्ण बनाते हैं या बनाने की चेष्टा करते हैं। जिस मुद्रण कला की सहायता से हम किसी ग्रन्थ का अवलोकन करने में सफल होते हैं उसके जन्म और विकास की लंबी कहानी है। इस कला का जन्म और विकास किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुआ, वरन् समस्त मानव जाति ने उसमें अपना योग दिया है। मुद्रणकला से परिचित होने के कारण हम साहित्य को एक छपी हुई चीज़ समझने लगे हैं। आज हम जितना प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य देखते हैं वह सभी मुद्रित रूप में है। मानव जाति के इतिहास में बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों का भी उतना महत्व नहीं है जितना मुद्रणकला और काग़ज़ का है। लिपि के विकास के साथ-साथ इन दोनों आविष्कारों ने मानवजाति के विचार और भाव सुरक्षित रखने में सबसे अधिक सहायता की है। जिस दिन मनुष्य ने लिखना और लिखी हुई चीज़ को सुरक्षित रखना सीखा होगा वह दिन वास्तव में मानव-इतिहास में महान् दिवस रहा होगा।

मनुष्य की भाव-निधि की परम्परा के सम्बन्ध में एक विद्वान् लेखक की अत्यन्त सुन्दर कल्पना है। कल्पना कीजिए कि किताबों ही की दुनिया में सबसे बड़ी मीनार खड़ी की जाय। उस मीनार की सबसे ऊँची पुस्तक, जो बहुत छोटी दिखाई देगी, हमारे आजकल के मुद्रित साहित्य का प्रतीक होगी। उससे नीचे की तीन-चार पुस्तकें मुद्रणकला के जन्म से पहले के हस्तलिखित साहित्य का प्रतिनिधित्व करेंगी। उससे नीचे की लगभग आधी दर्जन पुस्तकें शिलाओं, स्तम्भों आदि पर लिखे गये साहित्य का अनुमान करा सकेंगी। उससे कुछ नीचे तक की पुस्तकें उस समय के साहित्य की परिचायक होंगी जिसे कोई नहीं पढ़ सकता। उससे नीचे के बचे हुए और

एक बड़े भाग के लिए कोई कुछ नहीं कह सकता। उस समय पुस्तकें तो थीं नहीं। कुछ साहित्य रहा भी होगा तो उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं। किंतु उस समय मनुष्य शब्दों द्वारा कुछ तो अवश्य व्यक्त करता रहा होगा, लिखने से पूर्व वह बोलता रहा होगा, अथवा लिखित साहित्य से पहले भी किसी प्रकार का साहित्य रहा होगा।

साहित्य की कहानी के इस अभिनव रूपक से एक और अत्यन्त रोचक परिणाम निकलता है। और वह यह है कि प्रत्येक जाति का साहित्य काव्य के रूप में जन्म लेता है। मौखिक रूप में किसी सुंदर प्राकृतिक दृश्य या मानसिक भावावेग का वर्णन करने वाला पहला व्यक्ति कवि रहा होगा। वैसे भी मनुष्य के जीवन में बुद्धितत्व से पहले हृदयतत्व का स्थान है। युद्ध क्षेत्र में प्राणविसर्जन कराने के लिए अथवा धर्म के लिए जीवन-उत्सर्ग कराने वाले गायक रहे होंगे। वे चाहते रहे होंगे कि जो कुछ वे कहें उसे अन्य लोग याद रखें। और यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि गद्य की अपेक्षा पद्य का स्मरण रखना सरल है। गद्य लिखना सीखने से पहले मानव जाति ने गीतों का सृजन किया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अपने साधारण दैनिक जीवन में भी मनुष्य पद्य का ही प्रयोग करता रहा होगा। मौलियर ने अपने नाटक 'Le Bourgeois Gentilhomme' (ल बूर्ज्वा जाँतीलोम) में लिखा है कि एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति Mon. Jourdain (मों. जूर्दँ), जो एक सीधासादा नागरिक था, अपने को शिक्षित बनाने में संलग्न है। एक दिन उसके गुरु ने गद्य और पद्य का अंतर बताया। उसे यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मैं जीवन भर गद्य का प्रयोग करता रहा हूँ, किन्तु मुझे कभी मालूम नहीं हुआ। इसी प्रकार मानव जाति भी अपने प्रारंभिक काल में गद्य का प्रयोग अवश्य करती रही होगी, उस संबंध में हमें आज कुछ ज्ञात न हो यह दूसरी बात है। यह तथ्य हम उसी समय भली प्रकार समझ सकते हैं जब हम अपने को समग्र मानव जाति के रूप में देखें न कि व्यक्ति के रूप में। बाइबिल के सेंट जॉन द्वारा रचित सुसमाचार में कहा गया है 'In the beginning was the word'। भारतीय दार्शनिक विचारधारा में भी शब्द की महिमा गाई गई है। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य पढ़ने से पहले सुनता है, लिखने से पहले बोलता है। यही बात गद्य के संबंध में भी लागू हो सकती है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपनी आदिकालीन सीमित परिधि से बाहर निकल कर सभ्यता के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया, उसके जीवन में

पार्थिवता या भौतिकता का जन्म होता गया, आवश्यकताओं के बढ़ते जाने से उसका जीवन जटिल और दुरूह होता गया। उसके प्राकृतिक जीवन की सरलता में विपर्यय उत्पन्न हुआ। जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ जाने से मनुष्य के जीवन में व्यावहारिकता का अंश बढ़ता है और व्यावहारिकता बढ़ जाने से मनुष्य में बुद्धितत्व की प्रधानता होती है। संसार के आधुनिक जीवन में ज्यों-ज्यों जटिलाएँ और दुरूहताएँ बढ़ी हैं, त्यों-त्यों उसमें बौद्धिकता और व्यावहारिकता का अंश भी बढ़ा है। और इस अंश के बढ़ जाने से गद्य-साहित्य की अपेक्षा पद्यात्मक रचनाओं का अभाव होता जा रहा है। नहीं तो एक समय वह था जब कि साहित्य में पद्य का एकाधिपत्य था और अश्व-पालन जैसे विषय पर भी पद्यात्मक रचनाएँ होती थीं। प्रेस का इस संबंध में कम उत्तरदायित्व नहीं रहा।

विश्व-साहित्य के इस विकास-क्रम में भारतीय साहित्य कोई अपवाद स्वरूप नहीं रहा। संस्कृत में काव्य को ही लोकोत्तर आनंद प्रदान करने वाला माना गया है। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश-परंपरा टूट जाने के बाद प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्यों ने संस्कृत के आदर्शों का पालन किया। हिन्दी साहित्य के वीर और भक्तिकालों के लिए तो गद्य और भी उपयुक्त नहीं था। अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ संपर्क स्थापित हो जाने पर भी गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। वास्तव में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ हिंदी में भी गद्य का निर्माण इतने विलंब से क्यों हुआ, इसका कोई एक प्रधान कारण नहीं दिया जा सकता। हिंदी गद्य के लिए ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य मिलता है किंतु कम और स्फुट रूप में। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव जाति के साथ संपर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रांति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रवृत्तियों से हिंदी साहित्य अछूता न रह सका। शासन-संबंधी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण भी गद्य की आवश्यकता हुई। गद्य के द्वारा ही हिंदी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ। इन सब दृष्टियों से हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी एक अत्यंत महत्वपूर्ण शताब्दी है।

सुविधा की दृष्टि से हम हिंदी की गद्य-परंपरा को तीन शाखाओं में विभक्त कर सकते हैं : ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली। उन्नीसवीं शताब्दी का महत्व इस दृष्टि से भी है कि इस शताब्दी में एक ओर यदि ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परंपराओं का अंत हुआ, तो दूसरी खड़ीबोली गद्य-परंपरा के क्रम-बद्ध इतिहास का सूत्रपात हुआ।

ईसा की सोलहवीं शताब्दी से ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग होने लगा था और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही ब्रजभाषा समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान ली गई। बहुत दिनों तक साहित्यिक भाषा रहने के कारण गद्य की प्राचीन रचनाएँ भी सर्वप्रथम ब्रजभाषा में मिलती हैं। इस सम्बन्ध में गोरखपंथी रचनाओं का नाम लिया जाता है। किंतु इन रचनाओं के सम्बन्ध में अभी प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रायः ये रचनाएँ चौदहवीं शताब्दी की मानी जाती हैं। इन रचनाओं का गद्य ब्रजभाषा में है, किंतु उन पर राजस्थानी और खड़ी बोली का प्रभाव है। कुछ लेखकों ने गोरखपंथी गद्य को खड़ी बोली के अंतर्गत माना है। कुछ स्फुट अंश खड़ी बोली में लिखे गए अवश्य मिल जाते हैं, किंतु रचनाएँ प्रधानतः ब्रजभाषा में ही हैं। इन रचनाओं में ज्ञानयोग, हठयोग आदि का वर्णन है और विचार-परम्परा की दृष्टि से वे सिद्धों की परम्परा में मानी जाती हैं। ब्रजभाषा गद्य-परम्परा में विट्ठलनाथ कृत 'शृंगार रस-मण्डन, गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', नाभादास कृत 'अष्टयाम', बैकुण्ठमणि शुक्ल कृत 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' (१६२३ई.) सुरति मिश्र कृत 'बैताल पच्चीसी' (१७१०) आदि रचनाओं तथा अन्य अनेक टीकाओं की गणना की जाती है। ये सभी रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी से पहले की हैं। परम्परानुसार उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा गद्य तीन रूपों में मिलता है : पहला, ब्रजभाषा में स्वतन्त्र रूप से लिखे गए अनूदित या मौलिक गद्य-ग्रन्थों के रूप में; दूसरा, काव्य-टीकाओं के रूप में और तीसरा, स्वयं कवियों द्वारा दी गई टिप्पणियों के रूप में। स्वतन्त्र रूप; से लिखे गए गद्य-ग्रन्थों में लल्लूलाल कृत 'राजनीति' (१८०२, प्रकाशित (१८०९) और 'माधोविलास' (१८१७) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं— वास्तव में यदि 'राजनीति' और 'माधोविलास' ब्रजभाषा-परम्परा की अंतिम उपलब्ध कृतियां कही जायँ तो कोई हानि न होगी।

वास्तव में ब्रजभाषा गद्य की कोई क्रमबद्ध परम्परा न होने के कारण इन ग्रन्थों की भाषा सुगठित और मँजी हुई नहीं है। उसमें स्पष्ट रूप से

विचार प्रकट करने की शक्ति का अभाव पाया जाता है। वाक्य-रचना असंगठित और शिथिल है। ब्रजभाषा गद्य की विशेषता में हम धार्मिक ग्रन्थों और कथा-वार्ताओं तथा काव्य-टीकाओं की रचना मान सकते हैं। किंतु उनमें शैलियों का अभाव है। अँगरेज़ी राज्य द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों में ब्रजभाषा गद्य ग्राह्य न हो सका।

ब्रजभाषा गद्य-परंपरा की भाँति राजस्थानी गद्य-परंपरा भी काफ़ी प्राचीन है। राजस्थानी गद्य-परंपरा का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। राजस्थानी गद्य-साहित्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका है, किन्तु तब भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा की अपेक्षा राजस्थानी गद्य-परंपरा अधिक समृद्ध और विविध-विषय-संपन्न रही। उसमें दानपत्रों, पट्टों-परवानों, जैन-ग्रंथों, वार्ता, तथा राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि भिन्न-भिन्न विषय संबंधी ग्रंथों की रचना हुई। टीका-टिप्पणियों और अनुवादों का भी अभाव नहीं रहा। प्रारंभिक गद्य पर संस्कृत की समासयुक्त शैली और अपभ्रंश का प्रभाव है। बाद को वह खड़ी बोली के निकट होने के कारण उसके रूप ग्रहण करता रहा। फिर ब्रजभाषा के साहित्यिक पद पर आसीन हो जाने से वह उसके प्रभाव से भी अलग न रह सका। अनुमान के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से संबंध रखने वाले अनेक ऐसे ग्रंथ है जिनमें किसी-न-किसी रूप में अथवा ब्रजभाषा की भाँति तीनों रूपों में राजस्थानी गद्य मिलता है। किन्तु रचना-तिथियों या कवियों या लेखकों के नाम अज्ञात होने से उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ब्रजभाषा की भाँति राजस्थानी गद्य की भी अपनी सीमाएँ थीं, इसलिए वह भी नए विषयों के प्रतिपादन और नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त और उपयोगी माध्यम सिद्ध न हो सका। नवीन सांस्कृतिक केन्द्र कलकत्ते तथा अन्य नगरों से ब्रजभाषा और राजस्थानी केन्द्र दूर पड़ते थे। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से भी ये दोनों गद्य-परंपराएँ लाभ न उठा सकीं। इस समय तक खड़ी बोली का समस्त उत्तर भारत में चलन हो गया था। नवीन शासकों ने उसे आश्रय प्रदान किया। वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता भी उसे प्राप्त हुई। फलतः खड़ी बोली पहले गद्य के क्षेत्र में और फिर काव्य के क्षेत्र में प्रधानता ग्रहण करती गई और नवीन साहित्यिक चेतना का माध्यम बनी।

खड़ी बोली गद्य के विकास पर विचार करते समय इतिहास-लेखकों ने लल्लूलाल और सदल मिश्र के नाते उसका जन्म फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (१८००) में गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लल्लूलाल की 'प्रेमसागर' (१८०३) नामक रचना से माना है। किंतु यह वास्तविकता नहीं है। व्रजभाषा और राजस्थानी की भाँति खड़ी बोली की भी उन्नीसवीं शताब्दी से पहले गद्य-परंपरा थी-यद्यपि वह क्षीण रूप में थी। अमीर खुसरो और संत कवियों से लेकर दक्खिनी हिंदी के कवियों ने काव्य में भी खड़ी बोली का बराबर प्रयोग किया। स्वयं फ़ोर्ट विलियम की स्थापना से पहले या लगभग उसी समय रामप्रसाद 'निरंजनी', दौलतराम, मथुरानाथ शुक्ल, इंशा तथा अन्य कई स्फुट लेखक खड़ी बोली गद्य में विभिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। अस्तु, लल्लूलाल आधुनिक खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता नहीं माने जा सकते। वे उसके प्रारंभिक उन्नायकों में से एक अवश्य थे।

वास्तव में खड़ीबोली का स्वतंत्र अस्तित्व पहले ही से था और स्वयं उन्नीसवीं शताब्दी में वह स्वतंत्र रूप से बढ़ भी रहा था। किन्तु अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा स्थापित विभिन्न संस्थाओं, शिक्षा-केन्द्रों, उनके शासन की आवश्यकताओं और नवीन साहित्य, ईसाई धर्म, प्रेस, समाचार-पत्र आदि पाश्चात्य शक्तियों के फलस्वरूप प्रचलित नवीन भावों, विचारों आदि के द्वारा खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन, विकसित होने का अवसर, अवश्य प्राप्त हुआ। लाख प्रयत्न करने पर भी अँगरेज़ी के पक्षपाती उसे जन साधारण की भाषा बनाने में असफल रहे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति से खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप को प्रधानता मिली। विलियम प्राइस की भाषा-नीति से हिन्दी की ओर अधिकारियों का ध्यान अवश्य गया, किंतु उससे खड़ीबोली गद्य का कोई विकास न हो सका। लल्लूलाल के ग्रन्थों में से भी 'प्रेमसागर' का केवल ऐतिहासिक महत्व है। सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' की शैली में कुछ पुरानापन होते हुए भी वह बहुत-कुछ हमारी अपनी है। कंपनी की भाषा-नीति और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के माध्यम द्वारा खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन तो न मिल सका, किन्तु खड़ीबोली गद्य में शब्द-भाण्डार, विराम-चिह्नों आदि की वृद्धि और कुछ कोषों और व्याकरण आदि की रचना अवश्य हुई। शिक्षा-संबंधी अनेक विषयों से संबंध रखनेवाली पाठ्य-पुस्तकों में अँगरेज़ी के अनेक शब्दों का प्रचार हुआ। ईसाई

पादरियों के गद्य पर लल्लूलाल और इंशा का प्रभाव है। स्वतंत्र रूप से खड़ीबोली में गद्य-रचना करनेवालों में इंशा का वास्तव में महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य लेखक केवल धार्मिक विषय और शैली ही दे पाये। उनके ग्रन्थ अधिकतर अनूदित या किसी अन्य ग्रन्थ पर आधारित हैं। इंशा कृत 'रानी केतकी की कहानी' में भाषा, भाव और विषय सब बातों की दृष्टि से नवीनता है। खड़ीबोली गद्य परंपरा में इंशा का वही स्थान है जो हिंदी काव्य के आदिकाल में अमीर खुसरो की रचनाओं का है। पत्रों के माध्यम द्वारा, पाठ्य-पुस्तकों की भाँति, विषय-विस्तार के साथ-साथ शब्दों की वृद्धि हुई। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में नवयुग और नवचेतना की अवतारणा से खड़ीबोली गद्य का प्रवर्द्धन हुआ। हिन्दी प्रदेश की बोधवृत्ति के साथ तार्किकता और बुद्धितत्व का सामंजस्य-क्रम उपस्थित होने के फलस्वरूप खड़ीबोली गद्य की उन्नति का भी स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। खड़ीबोली गद्य ने नवयुग के नवजीवन का भार ग्रहण किया और उसकी चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतीक बना।

किंतु अभी तक खड़ी बोली गद्य परिपक्वता प्राप्त न कर सका था। वह अपनी प्राथमिक अवस्था में लड़खड़ाता हुआ चल रहा था। न तो अभी तक वह व्यवस्थित और सुगठित रूप में था और न उसमें साहित्यिक शैलियों का ही जन्म हो सका था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में जो जीवन की परिस्थितियाँ थीं वे विद्रोह के शांति के बाद फिर तीव्र गति से बदलीं। पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्य और वैज्ञानिक आविष्कारों से संपर्क बढ़ा। विविध सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। मैकॉले की शिक्षा-नीति का स्थान चार्ल्सवुड की आयोजना ने ग्रहण किया। अस्तु, इन सब बातों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और फिर बीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू को प्रधानता मिल जाने के कारण हिंदी के लिए संकट-काल उपस्थित हो गया था। ऐसे समय में राजा शिवप्रसाद साहित्यिक क्षेत्र में आए। वे सरकारी शिक्षा-विभाग के कर्मचारी थे। जहाँ तक लिपि से सम्बन्ध था वे देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। कचहरी में फ़ारसी लिपि का प्रयोग होते देख उन्हें दुःख होता था। लेकिन खुल्लमखुल्ला विरोध करने का उनमें साहस नहीं था। भाषा की तरफ उनका दूसरा रुख़ था। वे अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग कर हिन्दी पर 'पालिश' करना चाहते थे। अदालती भाषा उनकी आदर्श भाषा थी। उन्होंने संस्कृत-नि

हिंदी न लिखी हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु वह उनकी प्रतिनिधि भाषा नहीं कही जा सकती। शिवप्रसाद की भाषा का विदेशी रूप जनता में गृहीत न हुआ। सच्ची हिन्दुस्तानी यदि किसी ने लिखी तो वह देवकीनंदन खत्री और मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने। राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति के प्रतिक्रिया के रूप राजा लक्ष्मण सिंह शुद्ध हिंदी लेकर आगे बढ़े। यद्यपि उनकी भाषा कहीं-कहीं अस्वाभाविक प्रतीत होती है, किंतु उसमें विदेशीपन नहीं आ पाया। राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा उसके भावी रूप का आभास दे रही थी। उसमें अब परिमार्जित साहित्य के होने की देर थी। यह कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके सहयोगियों द्वारा संपन्न हुआ। उस समय भाषा में नाटक, उपन्यास, निबन्ध, प्रहसन तथा अन्य अनेक प्रकार की विविध विषयता के साथ दयानंद, भारतेंदु बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र जैसे शैलीकार उत्पन्न हुए। किंतु भाषा के परिमार्जन का दृष्टि से यह काल अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यह कार्य बीसवीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित हुआ। विषय-विस्तार के साथ-साथ लेखकों ने जीवन पर व्यापक दृष्टि डाली। बालमुकुंद गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधव मिश्र, पद्मसिंह, गोविंदनारायण मिश्र, पूर्णसिंह, यशोदानंदन अखौरी, जैनेन्द्रकुमार, प्रेमचंद, 'प्रसाद', रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि अनेक प्रतिभाशाली लेखकों ने खड़ीबोली हिंदी गद्य के विभिन्न साहित्यक रूपों प्रकारों और शैलियों के विकास में योग दिया। चरित्र-प्रधान, व्यक्तित्व-प्रधान, कवित्व-प्रधान, सम्भाषण आदि अनेक शैलियों, तथा कथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, हास्यात्मक, व्यंगात्मक, तर्कप्रधान आदि अनेक प्रकारों के अंतर्गत गद्य-रचनाएँ निर्मित हुई हैं। भाषा के शब्द-भाण्डार के साथ-साथ उसकी लाक्षणिकता और अभिव्यंजनात्मक शक्ति का अभूतपूर्व विकास हुआ है। आज हिंदी गद्य पुष्ट एवं संगठित होकर संसार की दुरूह से दुरूह समस्या हल करने और उच्च से उच्च विषय प्रतिपादित करने की शक्ति अर्जित कर चुका है। आशा है वह जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर तथा वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से अधिकाधिक विकासमार्ग की ओर अग्रसर होता जायगा।

साहित्य के दो पक्ष

आदि कालीन मनुष्य में जिस समय जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ उस समय वह अपने और अपने चारों ओर के जगत् के बीच संबंध स्थापित करने लगा था। विश्व की अनंत विविधता से संवेष्टित उसे भय, त्रास, विस्मय आदि का अनुभव हुआ। प्रकृति की इन त्रासकारिणी शक्तियों से उसने स्वात्म-रक्षा की चिंता की। चिंता करते हुए भी प्रकृति की इस भयंकर पीठिका में वह अपने 'अहं' को बनाये निश्चल भाव से स्थित रहा। सृष्टि की योजना में अनेक विषमताओं के बीच भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता था। यहीं से मनुष्य और उसके चारों ओर के वातावरण में 'दो' की भावना का जन्म हुआ। किंतु इस विषमता के साथ-साथ, इस 'दो' की भावना के बीच उसने प्रकृति के सौम्य और आह्लादकारी रूप का भी अनुभव किया। वृक्षों, लताओं और पुष्पों की कोमलता, विहंगम के कलरव गान, हिममंडित शिखर, उज्ज्वल चाँदनी, आकाश की तारकावलि-खचित नीलिमा और स्वयं अपने अस्तित्व की विविधता में एकात्मता का अनुभव किया। उसने अपने को इस अनंत विश्व की एकप्राणता का अंश मात्र समझा; ससीम को असीम का एक अंग समझा। इतने पर भी मनुष्य अपने ससीम अस्तित्व की परिधि के मोह का परित्याग न कर सका। विश्व के साथ एक-प्राणता का अनुभव करते हुए भी वह निजी अस्तित्व को बनाये रखना चाहता था। लेकिन जीवन की इस संकीर्णता को लेकर ही जीवन व्यतीत करना असंभव था। यहीं से अपूर्ण को पूर्ण में मिला देने की बलवती आकांक्षा का उसमें उदय हुआ। अपने निजी अस्तित्व का भार लिये हुए भी रागात्मिका-वृत्ति के धरातल पर स्थित विश्व की अनन्त विभूतियों के साथ एकात्मानुभूति द्वारा सत्य और सौंदर्य की यही सृष्टि साहित्य में स्थान पाती रही है। बाह्य जगत् और अंतर्जगत का यही अंतर्द्वंद्व, जो मनुष्य की अपनी अपूर्णता से उत्पन्न होता है, साहित्य की मूल सृजनात्मक शक्ति है।

मनुष्य की क्षुद्रता या ससीमता और विश्व की व्यापकता या असीमता के घात-प्रतिघात से जो सौंदर्य-सृष्टि होती है वेद की ऋचाएँ उसकी अनुपम उदाहरण हैं।

आगे मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता के पथ पर अग्रसर होता गया त्यों-त्यों उसका जीवन जटिल से जटिलतर बनता गया। जिस सौंदर्यमयी प्रकृति की गोद में पलकर अपनी चेतना का साथ लिए हुए विकास मार्ग की श्रेणियाँ पार करता हुआ मनुष्य आगे बढ़ रहा था उससे वह बहक गया। विश्व में छिपे हुए सत्य की पूर्ण व्याख्या के लिये जीवन के प्रथम विकास तक ही सीमित रहना वैसे भी असम्भव था। नियमानुसार वह उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता गया। तब उसने नवोत्तपन्न उलझनों को सुलझाने के लिये धर्म, समाज-शास्त्र, राजनीति आदि का आश्रय ग्रहण किया। जीवन के विविध सूत्रों को राज्य की संघटित शक्ति के केन्द्र में स्थापित करने का यह प्रथम प्रयास था। जीवन की विषमताओं पर विजय प्राप्त करते हुए उसने अपनी शक्ति का शतधा प्रसार किया। कौन जाने उसका यह क्रम कब तक अविरल रूप से चलता रहेगा।

विकास के साथ-साथ मनुष्य का जीवन-क्रम भी बदला। तरह-तरह की उत्पादन शक्तियों का जन्म हुआ। मनुष्य के विचारों और भावनाओं में अनेक परिवर्तन हुए। उसने जीवन और अपने चारों ओर के वातावरण को एक भिन्न दृष्टि से देखना सीखा। उसके अपने किये हुए संगठन से अनेक उलझनें पैदा हुईं। साथ ही प्रत्येक युग में नई-नई समस्यायें उत्पन्न हुईं।

जिस प्रेरणा से वेद के ऋषि सौंदर्य-सृष्टि करने में समर्थ हुए थे उसी प्रेरणा के वशीभूत हो मनुष्य ने साहित्य में विविध भावों की अभिव्यक्ति की। साहित्य ने उसके वातावरण की छाया में पालित-पोषित होकर, और उसकी हृदय वृत्ति के नाना रसों से सिंचित होकर, प्रत्येक युग में नवीन रूप धारण किया।

वेद, रामायण, महाभारत तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य से यह बात प्रत्यक्ष है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यही बात प्रमाणित होती है।

महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद देश छोटे छोटे राज्यों की अनेक टुकड़ियों में बँट गया था। राजागण आपस में ही लड़-भिड़ कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे थे। उस समय कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं का वीर-गान कर अपने को कृतकृत्य समझा। वे यह न सोच सके कि उनकी वाणी देश के व्यापक हित के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी या अकल्याणकारी। देश की तत्कालीन अवस्था में यही सम्भव था।

इसके बाद देश में भक्ति का जन्म हुआ। यह आन्दोलन देश का महान् आन्दोलन था जिसका नेतृत्व जनता के हाथ में था। कबीर, तुलसी, सूर, नामदेव, तुकाराम, चैतन्य आदि की वाणी से देश में एक नये जीवन का संचार हुआ। इन कवियों की वाणी में परमात्म-दर्शन की ही झलक नहीं है वरन् वह अपने युग की विभिन्न समस्याओं को संवेष्टित किये हुए है। एक विदेशी धर्म के आघात से देशी जीवन का मेरुदंड झुक जाने पर भी टूटा नहीं था। इसका श्रेय भक्ति आन्दोलन को है। उस समय पिछले सामन्तवादी युग का प्रकाश बुझ गया था। इसके बाद कालगति से सामन्त वर्ग और जनता दोनों में ही निश्चेष्टता आ गई। उनमें अपनी-अपनी पूर्वकालीन सजीवता न रह गई। फलतः कवियों ने जनता के कल्याण-पथ का सृजन करने के बजाय अपने-अपने आश्रयदाताओं की वासना की पूँजी से व्यापार किया। कविता कामिनी ने अपने भ्रू-विलासों से उनका मन बहलाया। सत्य की अवतारणा करनेवाले कवियों ने युग की कामुकता की पंकिलता में कमल खिलाये। मनुष्य की पाशविकता के सहारे उन्होंने रसों का असीम विस्तार किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह युग अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया के रूप में था। लेकिन कुछ भी हो कवियों ने अपने युग का साथ दिया। फिर जिस समय देश अवनति के कर्दम में पड़ा हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था उस समय पश्चिम की एक सजीव जाति ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अपने साम्राज्य ध्येय की पूर्ति के साथ-साथ उसने कुछ आदर्श स्थापित किये जिनसे मोहित होकर देश के उच्च वर्ग ने उन्हें सहयोग प्रदान किया। इस जाति की स्वार्थपरता के साथ-साथ उसके ये उच्च आदर्श ही उसे संसार में एक सफल साम्राज्यवादी शक्ति बनाने में समर्थ हो सके हैं। पतनोन्मुख जाति के लिए यह पश्चिमी जाति जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण लेकर आई जिसका देश पर गहरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। भारतीय इतिहास का एक नया परिच्छेद प्रारम्भ हुआ और कवियों ने जीवन की परिवर्तित परिस्थिति के साथ पूर्ण योग दिया।

कहना न होगा यह क्रम अभी बदला नहीं वरन् और भी तीव्रगति से जारी है।

जीवन और साहित्य के इस पारस्परिक घनिष्ट संबन्ध के अध्ययन से हम एक और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

सौन्दर्य संबन्धी समस्या के अंतर्गत साहित्य को ललितकला का एक रूप माना ही जाता है। जीवन में सत्य की खोज के लिए जगत के विविध

रूपों का वर्गीकरण किया जाता हो। किन्तु ऐसा वर्गीकरण सौन्दर्य-सृष्टि के लिए अनुपयोगी प्रमाणित होगा। सौन्दर्य-सृष्टि के लिए तो हमें जीवन को अखण्ड रूप में देखना चाहिए। जीवन की व्यापकता और उसकी अभिव्यक्ति, मानव-हृदय और चरित्र और उनसे एक अज्ञात शक्ति की सृष्टि से जो आनन्द की वीणा अहर्निश झंकृत होती रहती है वह ही कला और साहित्य की सौन्दर्यमयी सृष्टि के लिए उपयुक्त उपकरण है। प्रकृति के अनन्त वैभव और जीवन की विभिन्नता को स्वर का माधुर्य प्रदान करना साहित्य की चिरन्तन चेष्टा है। लेकिन साहित्य के इस लोकोत्तर रूप के साथ-साथ उसके उपयोगी रूप का भी घनिष्ट संबन्ध है। सामाजिक जीवन और उसकी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने और उनपर प्रकाश डालने वाला साहित्य का उपयोगी पक्ष भी कम महत्त्व नहीं रखता। अपने चारों ओर के वातावरण को स्वीकार कर विभिन्न आदर्शों, भावनाओं, आवश्यकताओं, अभाव-पूर्तियों तथा अन्य संख्यातीत विविधताओं का मूल्यांकन कर उन्हें प्रतिष्ठित करना और जीवन को गतिशील बनाना साहित्य के लिए परमावश्यक है। संक्षेप में सूक्ष्म और स्थूल, अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की समस्याओं का समन्वय कर आनन्द की सृष्टि के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण से जीवन के लिए, समाज के लिए उपयोगी साधन सिद्ध होना भी साहित्य का स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिए।

किन्तु प्राय: देखा जाता है कि साहित्यकार या तो साहित्य के आनन्द रूप पर अधिक ध्यान देता है या उसके उपयोगी रूप पर। यह ठीक है कि साहित्य के एक या दूसरे रूप पर ही अधिक ध्यान देना किसी ध्येय या परिस्थिति पर निर्भर रहता है। लेकिन साहित्यकार का अपनी परिस्थिति या वातावरण के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण उसके महत्त्व को बहुत सीमित बना देता है। उसकी अनुभूति जहाँ अखण्ड, व्यापक, समग्र और सम्यक् रूप से विद्यमान रहती है वहाँ साहित्य के दोनों रूपों में संबन्ध-विच्छेद का अभाव रहता है। इन दोनों रूपों के अलग होते ही साहित्य का मूल्य गिर जाता है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होते देर नहीं लगती। वीरगाथाओं में सामन्तों की गाथाएँ हैं। जीवन के कठोर धरातल पर स्थित होने के साथ-साथ इन ग्रन्थों में मानव-जीवन के उन उच्च स्तरों का निदर्शन नहीं है जहाँ मनुष्य आनन्दविभोर हो पुलकित हो उठता है। उन पर उनके वातावरण का ही प्रभाव प्रधान है। 'आल्हा' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें मानव-जीवन के अन्तर्तम को स्पर्श कर लेने की शक्ति है। इसीलिए अन्य वीरगाथाओं की अपेक्षा 'आल्हा' जनता के जीवन में घुलमिल गया है।

तुलसी-साहित्य भी आनन्द और उपयोगिता के सामञ्जस्य के कारण ही आज भी देश के जीवन में स्थायित्व प्राप्त किए हुए है। सूरदास द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति मानव-जीवन की शाश्वत अनुभूति है। कबीर में समाज सुधार और रहस्यवाद के चिरन्तन सत्य का सुन्दर सम्मिश्रण है। मीरा की स्निग्ध वाणी में नारी-हृदय की मूल एवं सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यञ्जना है। रीति-कालीन कवियों की कला जीवन से दूर है। भारतेंदु-युग के कवियों का स्वर जीवन का स्वर होते हुए भी कलात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं पा सकता। फलत: इन पिछले दो कालों के कवियों की रचनाओं का साहित्य के इतिहास में स्थान है, जीवन में नहीं। तुलसी जीवन के कवि थे इसीलिए उनके 'मानस' में जीवन के दोनों पक्षों का सुन्दर सामञ्जस्य है। आनन्द और उपयोगिता वैसे भी जीवन के प्रधान और प्रमुख पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों के मिल जाने पर ही जीवन की एक अखण्ड और अजस्र धारा प्रवाहित होती है। वास्तविक जीवन में हम इन दोनों पक्षों को एक साथ न देख पाते हों यह दूसरी बात है, किन्तु इससे उनके महत्त्व और अस्तित्व पर आघात नहीं पहुँचता। साहित्य जीवन को व्यापक दृष्टि से अखण्ड रूप में देखता है। उनमें से एक का भी अभाव जीवन को खण्ड रूप में देखने के बराबर होगा।

इन दोनों पक्षों के सामञ्जस्य का महत्त्व न समझ सकने के कारण ही आज हिन्दी में व्यर्थ का वितण्डावाद उठ खड़ा हुआ है।

एक पक्ष है जो संवेदनात्मक दृष्टि से मानव-जीवन के केवल सूक्ष्म जगत् को ही अपनाना चाहता है। सूक्ष्म जगत् का महत्त्व होते हुए भी वह पूर्ण सत्य नहीं है। इस प्रकार का काव्य दर्शन बनने की ओर अधिक उन्मुख हो जाता है और उसमें हमें रचयिता के अनुभव मात्र के दर्शन होते हैं न कि अनुभव-जन्य परिणाम के। इस साहित्य में चित्रमय मानव-जीवन के केवल एक पक्ष का आभास प्राप्त होता है। इस साहित्य के स्रष्टा दीप को अकम्पित और अचञ्चल जलाना चाहते हैं। पथ ही उनका निर्वाण है, हृदय की शून्यता को लिए हुए वे किसी तिमिराच्छन्न अज्ञात पथ के पथिक हैं, उनके अश्रुओं में प्रलय-पयोधि तरंगित होता रहता है, उनके प्राण आहत हैं और स्वर-संधान टूटा हुआ है, उनके प्यास से भरे नेत्र अभिसार करते रहते हैं और वे अनन्त नींद का वरदान माँगते हैं। इस प्रवृत्ति में सौन्दर्य की अमिट पिपासा है, काव्य-प्रतिभा है। किन्तु इसमें 'कला-कला के लिए' की ओर झुकाव पाया जाता है। चिन्तन के क्षणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। जिस व्यापक जीवन के ये क्षण अंग हैं

उससे अलगाव पाया जाता है। इन क्षणों को छोड़कर सामाजिक जीवन के निकट उनका महत्त्व अधिक नहीं। इसीलिए जीवन में उपयोगिता के प्रति यह साहित्य उदासीन पाया जाता है। उसका क्षेत्र व्यापक होते हुए भी एक प्रकार से संकुचित ही है क्योंकि वह जीवन के केवल एक पक्ष को लेकर चलता है, और यह पक्ष पूर्ण जीवन नहीं है। सामाजिक जीवन के विधान में सूक्ष्म जगत् केवल एक खण्ड भाग का प्रदर्शन करता है।

दूसरा पक्ष है जो केवल स्थूल जगत तक ही अपनी कलात्मक सृष्टि को सीमित रखना चाहता है। वह साहित्य को उपयोगिता मात्र की दृष्टि से देखता है। सूक्ष्म जगत् वाला साहित्य और स्थूल जगत वाला साहित्य दोनों ही जीवन में साम्य स्थापित कर अपने ध्येय की पूर्ति करना चाहते हैं। किन्तु एक में दूसरे पक्ष का निर्वासन पाया जाता है। केवल उपयोगिता तक सीमित रखनेवाला साहित्य एक विशेष कार्यक्रम का अनुचर बनना चाहता है। इसीलिए इस साहित्य के निर्माताओं में प्राचीन साहित्य और देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति के प्रति विरोधी भाव पाये जाते हैं। साथ ही जीवन के आर्थिक पहलू पर जोर देते हुए वे भाव-परंपरा, संस्कृति, कालप्रवाह आदि बातें भूल जाते हैं और इसीलिए वे कला के आनन्दमय स्वरूप को भी नहीं मानते। साहित्य में अतीत को भूल जाना असंभव है। लेकिन अतीत के पर्दे में ही मुँह छिपाये रहना साहित्य के लिए घातक है। युग-धर्म का अनुसरण करना प्रगति अवश्य है, किन्तु युग-धर्म को अपनी भुजाओं में संवलित करते हुए युग से ऊपर उठ जाना महानता है। केवल युग-धर्म पार्थिव है, इसलिए विनाशवान है। युग-धर्म को लिए हुए, युग-युग का धर्म अपार्थिव है, इसलिए अमर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि एक जीवन के एक पक्ष को लेकर चलता है तो दूसरा जीवन के दूसरे पक्ष को। साहित्य के लिए यही आंशिक दृष्टिकोण तरह-तरह की समस्याएँ पैदा करता और साहित्य के मूल्य को गिरा देता है।

वास्तव में साहित्य के आनन्दमय स्वरूप और उपयोगी स्वरूप के अन्तर्गत मनुष्य की अन्ततम प्रवृत्तियों और उसके बाह्य वातावरण के सुन्दर सामञ्जस्य से ही साहित्य मानवता के लिए चिरन्तन आनन्द की वस्तु होने के साथ-साथ युग-धर्म का पालन भी कर सकता है। यही साहित्य का स्थायित्व है।

कला और साहित्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

मानवीय संस्कृति के इतिहास में आधुनिक वैज्ञानिक युग की दो प्रमुख और महान् विचार धाराओं कम्यूनिज्म और मानसतत्व-विश्लेषण (Psycho-Analysis) का प्रभाव अभूतपूर्व और विश्वव्यापी है । धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, विज्ञान आदि के मूल्यांकन में इन विचार-धाराओं ने आश्चर्य-जनक नूतन विचारों को उत्तेजना दी है ।

फ्रॉयड (Freud) अपने मानसतत्त्व-विश्लेषण के द्वारा मनुष्य की अन्तश्चेतना (Unconsciousness) के निगूढ़तम रहस्यों का स्पष्टीकरण करने में आश्चर्यजनक रूपसे सफल हुए हैं। उनके मनोवैज्ञानिक तत्त्वानुसंधानों द्वारा मानवीय संस्कृति पर जो प्रकाश पड़ा है उससे मनुष्य की अपनी बौद्धिक अन्तर्दृष्टि और संयम-सम्वन्धी शक्तियों की परिधि विस्तृत करने और अपने आपको पहिचानने की अपूर्व क्षमता प्राप्त हुई है । मनुष्य के अन्तर्जगत् या मन में जितनी भावनाएँ संभूत होती हैं उनमें से बहुत थोड़ी ही उसके सक्रिय जीवन में पूर्ण हो पाती हैं। शेष उसके अन्तर्जगत् के अज्ञात प्रदेश में सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं । परन्तु उनका तिरोभाव नहीं हो जाता । वे भी समय-समय पर छद्मवेष में, परोक्षरूप में, मनुष्य की सहज मनोवृत्तियों का साहचर्य्य पाकर विकृत या समुन्नत रूप में उसके रात-दिन के जीवन में रहस्यमयी घटना-चक्रों, दिवा-स्वप्नों या रूपकों की भाषा में रात को स्वप्नों में व्यक्त होती रहती हैं । मनोविज्ञान के इन मनीषियों ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि और कार्यकलाप का अन्तर्जगत् की इन्हीं अज्ञात और सुप्त भावनाओं के द्वारा संचालन होता है । एक दूसरे रूप से भी मनुष्य की भावनाएँ अन्तर्जगत् में दबी पड़ी रहती हैं । मानसतत्त्व-विश्लेषण के

अनुसार बालकों में मानवीय जीवन के बाल्यकाल की बर्बरता, पाशविकता आदि सभी बातें पाई जाती हैं। इसीलिए इन विद्वानों ने बालक को (Polymorph perverse और Pan-criminal) कहा है। बाल्यकाल की मनोवृत्तियाँ कामुकता, यौवनआकांक्षा, जुगुप्सा, संहारात्मकता आदि से संवेष्टित रहती हैं। समाज की दृष्टि में ये मनोवृत्तियाँ अकल्याणकर समझी जाती हैं। फलतः शिक्षा, धर्म, सामाजिक शासन आदि के दण्ड से ताड़ित कर वह उन्हें मनुष्य की अन्तश्चेतना में बलपूर्वक स्थापित कर देता है। पर सुअवसरानुकूल सजग होकर वे मनुष्य के चेतन मन और उसके द्वारा जीवन को बराबर प्रेरित करती रहती हैं। ऐसे ही अवसरों पर कवि या कलाकार के अन्तराल से काव्य की निर्मल धारा फूट पड़ती है। प्रचलित अर्थ में इसी को अज्ञात प्रेरणा या शक्ति कहते हैं, यही भग्न चैतन्य के अन्तराल की वेदना एवं आनन्दमय अनुभूति है।

पश्चिमी पौराणिक साहित्य में एक कथा का वर्णन है। पिग्मैलिअन (Pygmalion) नामक शिल्पकार ने एक अत्यन्त सुन्दर नवयुवती की हाथीदाँत की मूर्ति बनाई। मूर्ति-निर्माण कर चुकने पर उसने सौन्दर्य और प्रेम की अधिष्ठात्री देवी वीनस (Venus) से उसमें प्राणों का संचार करने की प्रार्थना की। इच्छा पूर्ण हो जाने पर पिग्मैलिअन ने उससे विवाह कर लिया। विद्वानोंका कथन है कि पहले से ही उस मूर्ति की जीवित प्रतिमूर्ति गैलैशिया (Galatia) नामक स्त्री से प्रेम करता था।

प्रायः देखा जाता है कि बच्चे दीवारों पर कुत्ते, बिल्ली, घोड़ा, गाड़ी आदि के विचित्र-विचित्र चित्र खींचा करते हैं। उनमें कला का दिग्दर्शन नहीं रहता। परन्तु वे कला के जन्म के संबन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की सृष्टि करते हैं। लोग उनको बच्चों का विनोद और कौतुक समझकर ध्यान नहीं देते। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है। बच्चे नाना प्रकार के छोटे-छोटे खिलौनों से खेलना चाहते हैं। जब उनकी मनोनीत वस्तु उनको नहीं मिलती तो उनकी मनोगति उनको मरुभूमि में प्यास से क्षुब्ध सो रहे उस यात्री की परिस्थिति की ओर खींचकर ले जाती है जो स्वप्न में अपार जल राशि के दर्शन करता है। बच्चा भी पिग्मैलिअन की रीत्यनुसार कला के क्षेत्र में पदार्पण करता है। कला के जन्म की व्याख्या का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। बालक ने कला के साधन द्वारा अपनी आन्तरिक इच्छाओं की ओर अनुभूतियों की पूर्णता प्राप्त की।

मनोविज्ञानियों के अनुसार कला मनुष्य की इच्छा-पूर्ति का साधन है। प्रतिभाशाली व्यक्ति चित्रपट पर चित्र खींचकर शब्दों की योजना कर, वाणी से ध्वनि उत्पन्न कर तथा अन्य साधनों से मनस्तुष्टि कर लेते हैं। जिनमें अपने भावों तथा अनुभूतियों को उक्त रूप से व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती वे झूँठ बोलकर, मनोरंजन में समय व्यतीत कर, दिवा-स्वप्न देखकर, रात को स्वप्न-जगत् में विचरणकर, छायात्मक कल्पना द्वारा अपने जीवन और बहिर्जगत् की वास्तविकता से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। कला और साहित्य द्वारा जीवन के इस अभाव की पूर्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हिन्दी की रीतिकालीन शृंगार-रचनाओं में मिलता है। भक्तिकालीन संयम-साधना के अंकुश से पीड़ित हिन्दी कवियों की शृंगार-भावना कृष्ण के आमोद-प्रमोद वाले रूप को लेकर और संस्कृत साहित्य की परम्परा एवं राजकीय दरबारों के विषय पूर्ण वातावरण का आश्रय ग्रहण कर दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों में गूँथकर प्रस्फुटित हो उठी। एडलर (Adler) के, जो पहले फ्रायड के ही शिष्य थे, लघुत्व और हीनत्व (Inferiority Complex) की क्षतिपूर्ति वाले मतानुसार, और साथ ही फ्रायड के मानसतत्त्व-विश्लेषण के अनुसार, आधुनिक छायावादी हिन्दी कवियों की अधिकांश रचनाएँ उनकी अतृप्त वासनाओं के परिणाम स्वरूप एवं मनोविकार-ग्रस्त हैं। क्या उनकी रचनाओं को देखकर, निस्सन्देह जिनमें कलात्मक प्रदर्शन है, उनकी जीवन की 'भूख' उनके जीवन के अभाव और उनकी मनोवृत्तियों का पता नहीं चलता? उन्होंने भी कला का सहारा लिया है। वास्तविक जीवन में प्रेम का अभाव उनकी रचनाओं में धधकती हुई अग्नि की ज्वाला को भुजाओं में भरने की आकांक्षा के रूप में प्रकट होता है, तरुणी के मधुर अधरामृत का अभाव या अतृप्त वासना मदिरा के रूपक-चित्रों के रूप में जन्मजात संहारक प्रवृत्ति का द्वन्द्व आदि प्रचण्ड रूपों में व्यक्तीकरण होता है। काव्य में अतृप्त वासना का जितना स्पष्ट और जघन्य प्रकटीकरण 'एकांत संगीत' में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है, ऐसा मेरा विचार है।

कवि या कलाकार के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन कर लेने पर उसके व्यक्त भाव और स्पष्ट हो जाते हैं, वे नग्न रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। फ्रायड का कथन है कि लियानार्डो (Leonardoda Vinci) के प्रसिद्ध मोनालीज़ा (Mona Lisa) की परम विख्यात मुस्कान उसकी माँ की मुस्कान है जो उसके स्मृति-पटल पर अस्पष्ट रूप से अंकित थी।

भारतीय प्राचीन एवं अर्वाचीन कलात्मक और साहित्यिक कृतियों से अन्य अनेक उदाहरणों का संकलन किया जा सकता है।

प्रत्येक कवि या कलाकार किसी न किसी अंश में पिगमैलिअन होता है।

कलात्मक कृति द्वारा और स्वप्न, मनोरंजन, झूठ आदि द्वारा इच्छा-पूर्ति करने में भेद है। पिछले रूप में स्वयं व्यक्ति ही प्रधानतः प्रतिष्ठित रहता है, उसी की व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति रहती है, वाह्य-संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। कलाकार की कृति का स्पष्ट रूप से समाज से सम्बन्ध रहता है, पाठक कलाकार की भावना के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं।

साथ ही कला के अवैज्ञानिक प्रयोग के अन्तर्गत अनेक बातों का समावेश किया जाता है। जैसे, विविध प्रकार के रंग आदि से सजाना, अन्ततोगत्वा जिसका उद्गम Exhibitionism (प्रदर्शनात्मक प्रवृत्ति) में पाया जाता है, अथवा किसी वस्तु की ज्यों की त्यों नक़ल उतारना, जो अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के अन्तर्गत है न कि सौन्दर्य-भावना के। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कलाकार का इनके बिना कार्य भी सम्पन्न नहीं होता। वैसे आजकल आनन्दमय अनुभूति (Aesthetic) और सौंदर्य-भावना (Sense of Beauty) में भी भेद माना जाता है। Aesthetic वह है जिसे हम लोकोत्तर आनन्द कहते हैं और जिस में हम किसी वस्तु, रूप, रंग ध्वनि आदि से उत्पन्न आनन्द का अनात्मभाव (impersonal) में उपभोग करते हैं। इस आनन्दमय अनुभूति का जन्म मनुष्य की अन्तश्चेतना के निगूढ़तम प्रदेश में होता है। कलानुभूति आनन्ददायक ही नहीं, दुःखावबोधक भी होती है। किसी दुःखपूर्ण घटना को आनन्ददायक रूप में पाठकों के सम्मुख रखना लेखक की प्रतिभा का कार्य है। दुःखांत रचनाओं का यही विशेष गुण है। अरस्तू की Catharsis Theory का यही आश्रय है। अन्तश्चेतना का अध्ययन करने के पश्चात् ही हम तज्जनित सौख्य, अवश्यम्भाविता, पूर्णत्व, न्याय्य आदि आनन्दमय अनुभूतियों के वास्तविक रूप से परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

साहित्य में भावों के साथ-साथ उनका वाह्यरूप (छंद आदि) भी होता है। वाह्यरूप के साथ लय आदि का सामञ्जस्य हो जाने पर ही भाव या विचार आनन्द प्रदान करता है। परन्तु भाव या विचार निश्चित रूप

से अन्तश्चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए साहित्य में भाव ही मुख्य विषय है।

कला कलाकार के अन्तरतम में दबी हुई भावनाओं का स्पष्टीकरण है। उसकी कृति से हम उस के अन्तर्जगत् के द्वन्द्व, विकृत अथवा स्वास्थ्यकर भावनाओं, कामुकता, यौवन-आकांक्षा, संहारक प्रवृत्तियों आदि के आलोड़न-विलोड़न का पता सहज ही में चला सकते हैं। यह मानसतत्त्व-शास्त्र की देन है।

यहाँ पर यह बता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि कभी-कभी उन्माद-ग्रस्त (Insane) व्यक्ति भी अत्यन्त सुन्दर कलात्मक रचना करने में सफलीभूत हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक इस तत्व का अनुसंधान कर कलाकार की कलात्मक अनुभूतियों का स्रोत पा चुके हैं। परन्तु स्वस्थ और उन्माद-ग्रस्त व्यक्तियों की रचनाओं में यह अन्तर होता है कि उन्माद-ग्रस्त की कृति स्पष्ट रूप से 'स्व' में केन्द्रित रहती है। इसीलिए दूसरों को वह अस्पष्ट प्रतीत होती है। उन्माद-ग्रस्त व्यक्ति अपने को समाज के साथ रखने में असमर्थ होता है। स्वस्थ कलाकार की कृति में हम आनन्दमय अनुभूति का अनुभव करते हैं। हम उसकी कृतियों में स्वानुभूति की छाया स्पष्ट देख सकते हैं। जो कृति जितने ही अधिक व्यक्तियों की अनुभूति का दर्पण बन सकती हो, वह कृति उतनी ही अधिक महान् कही जाने योग्य है और कलाकार भी उतना ही ऊँचा स्थान पाने का अधिकारी है। अमर कवि और कलाकार इसी कोटि में आते हैं। उनका सम्बन्ध 'त्व' से होता है। 'स्व' और 'त्व' के आधार पर ही किसी कलात्मक कृति की निकृष्टता अथवा उत्कृष्टता का निर्धारण किया जा सकता है। 'स्व' वाली कृति कलाकार की कृति हो सकती है, कलात्मक नहीं।

अस्तु, सब प्रकार की अभिव्यक्तियाँ, वे चाहे विकार-ग्रस्त हों अथवा स्वस्थ, दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—बाल्य-जीवन की प्रवृत्ति से संवेष्ठित (Infantile) या प्रौढ़ावस्था या स्वस्थ मन से प्रभावित (Adult) अथवा 'स्व' में केन्द्रित (Autoerotic) या 'त्व' से संबंध रखने वाली (Object libido)। जहाँ तक व्यक्ति से सम्बन्ध है दोनों प्रकार की रचनाओं में बहुत कम अन्तर है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से वे ही रचनाएँ सफल कही जा सकती हैं जिनके साथ श्रोता अथवा पाठकगण तादात्म्यानुभूति प्राप्त कर सकें।



हिंदी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग

कुछ वर्ष हुए मुझे स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का 'सीधी हिंदी' शीर्षक निबंध पढ़ने का अवसर मिला था। इस निबंध में लेखक ने सरल और नित्य के जीवन में व्यवहृत हिंदी लिखने की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस संबंध में उन्होंने एक घटना का उल्लेख किया है जिससे उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है। एक दिन वे घर पर नहीं थे। उनकी अनुपस्थिति में उनके एक मित्र उनसे मिलने आए। उन्हें घर पर न पाकर वे यह नोट छोड़कर चले गये कि 'आपके समागमार्थ मैं गत दिवस आप के धाम पर पधारा, गृह का कपाट मुद्रित था, आप से भेंट न हुई, हताश होकर परावर्तित हुआ।' घर आने पर उन्होंने अपने मित्र का नोट पढ़ा और चुपचाप काग़ज जेब में रख लिया। कार्यवश उन्हें शहर जाना पड़ा। मार्ग में उनके उन्हीं मित्र से भेंट हो गई। देखते ही मित्र ने कहा—कल मैं आप से मिलने के लिए आप के घर पर गया था, घर का दरवाज़ा बन्द था, आप से भेंट नहीं हुई, लाचार होकर लौट आया।' द्विवेदी जी ने उत्तर दिया—'जी हाँ, मुझे आप का नोट मिला था। जिस भाषा का आप इस समय प्रयोग कर रहे हैं यदि यही आप लिखते भी तो कितना अच्छा होता।' यह १९ वीं शताब्दी के लगभग अन्त की बात है। मैं समझता था ऐसी हिंदी लिखने का समय अब नहीं रहा। किन्तु मैंने अनुभव किया कि आज भी स्वर्गीय सुधाकर जी की बात ज्यों की त्यों दुहराई जा सकती है। थोड़े दिन हुए मेरे एक मित्र ने एक प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र से एक हस्तलिखित ग्रन्थ मँगाया था। उसके साथ जो पत्र भेजा गया था, उसमें लिखा हुआ था : 'पोथी अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ। अवलोकन के पश्चात् परावर्तित कर दीजियेगा।' मेरा ध्यान हठात् सुधाकर जी के लेख की ओर गया। मैंने सोचा सम्भवतः सुधाकरजी का ज़माना अभी खत्म नहीं हुआ। इसके बाद मैंने आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख-प्रमुख कवियों और

लेखकों की रचनाओं की ओर ध्यान दिया तो मुझे यही ज्ञात हुआ कि सीधे, सरल और व्यहारोपयुक्त शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का मोह हिन्दी के लेखकों में काफ़ी बना हुआ है और जब लब्धप्रतिष्ठ उच्चकोटि के लेखकों और कवियों की इस प्रवृत्ति का अनुकरण अन्य लेखक और कवि करने लगते हैं तो हिन्दी हिन्दी न रहकर तत्सम शब्दों की प्रदर्शिनी मात्र रह जाती है। कहने को तो कह गया किन्तु इधर १५ अगस्त, १९४७ के बाद राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी को प्रमुखता मिल जाने के कारण अनेक ऐसे शब्दों का निर्माण हो रहा है जो कर्णसुखद और कलात्मक नहीं कहे जा सकते। ऐसे शब्द पढ़ने के आदी हम भले ही हों, सुनने के आदी नहीं हैं। यह ठीक है कि घोर संस्कृत-निष्ठ शैली भी हमारे साहित्य की अनेक शैलियों में से एक है। किन्तु प्रत्येक शैली का अवसर होता है। नित्यप्रति के दैनिक व्यवहार में संस्कृत-गर्भित भाषा हास्यस्पद, भद्दी और अकलात्मक प्रतीत होती है। ऐसी भाषा सुन कर उन्नीसवीं शताब्दी के एक उपन्यास-लेखक की याद आ जाती है जिसने 'मेरी नाक बह रही है' जैसी सीधी सरल और अच्छी लगने वाली हिन्दी के स्थान पर 'मेरा नासिका-रन्ध्र स्फीत हो रहा है' जैसी भाषा का प्रयोग किया है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो तत्समता का अत्यधिक मोह खड़ीबोली लेखकों की ही विशेषता है। आप हिंदी के अवधी और ब्रजभाषा साहित्य का अध्ययन कीजिए। आपको तुरंत ज्ञात हो जायगा कि अवधी और ब्रजभाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है और काफी प्रयोग हुआ है। किंतु इस संबंध में दो बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट हुए बिना न रहेगा। एक तो यह कि संस्कृत के ऐसे सरल, चुने हुए और भाषा के प्राकृत स्वरूप में घुलमिल गए शब्दों का ही प्रयोग हुआ है जिनसे भाषा में अस्वाभाविकता आने के बजाय उसका सौंदर्य ही बढ़ा है। दूसरे यह कि अवधी और ब्रजभाषा संस्कृत शब्दों के बोझ से लड़खड़ा कर नहीं चलने लगतीं और साथ ही उनमें कहावतों, मुहावरों और सर्व प्रचलित अरबी फ़ारसी शब्दावली का प्रयोग भी बराबर मिलता है। शुद्ध खड़ीबोली हिंदी लिखनेवालों की पर्याप्त संख्या मिल जायगी, किंतु शुद्ध अवधी या शुद्ध ब्रजभाषा लिखनेवाला शायद ही कोई मिले। दुःख तो इस बात का है कि संभवतः रत्नाकरजी को छोड़कर अन्य आधुनिक ब्रजभाषा कवि भी अपना प्राचीन वैभव भूल बैठे हैं। उनमें भी अधिकतर यही प्रवृत्ति पाई

जाती है कि वे संस्कृत शब्द को कुछ-कुछ ब्रजभाषा रूप देने का प्रयत्न करने लगते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से खड़ी बोली के लिए उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि वैसे तो हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों में खड़ी बोली का स्फुट प्रयोग बराबर मिलता है किंतु उसका क्रम बद्ध साहित्य हमें सर्व प्रथम उन्नीसवीं शताब्दी में ही मिलता है। भारतीय ऐतिहासिक कारणों से उसे उस समय गद्य के क्षेत्र में ही एकाधिपत्य प्राप्त हो सका। काव्य में उसे कई शताब्दियों से चली आरही ब्रजभाषा से मुक़ाबला करना पड़ा। बीसवीं शताब्दी में भी हमें ब्रजभाषा रचनाएँ मिल जाती हैं, किंतु अब प्रत्योप व्यावहारिक दृष्टिकोण से खड़ी बोली ही गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में साहित्यिक भाषा है। आधुनिक काल में ब्रजभाषा में रचना करना साहित्यिक मनोरंजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

कुछ वर्ष हुए पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का '२०० वर्ष पहले का खड़ी बोली के नमूने' शीर्षक लेख 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने जो उदाहरण दिए हैं उनमें खड़ीबोली के ठेठ रूप के साथ-साथ सर्व प्रचलित संस्कृत और अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन उदाहरणों की भाषा के संबंध में दो बातें ध्यान रखने योग्य हैं। एक तो यह कि भाषा किसी के उदाहरण साहित्यिक कृति से नहीं वरन् पत्रों से उद्धृत किए गए हैं। दूसरे यह कि पत्रों से उध्दृत किए जाने के कारण वह साधारण जीवन में व्यवहृत भाषा के अधिक निकट है—क्योंकि साधारतः पत्रों में कोई साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं करता। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि सर्वसाधारण की बोली में सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के साथ-साथ संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता था। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि खड़ीबोली का उस समय एक व्यावहारिक रूप था जो बहुत कुछ आज के व्यावहारिक रूप से मिलता जुलता है। खड़ी बोली गद्य की परंपरा में हमें सबसे पहला (१७४२ ई०) निश्चित ग्रन्थ रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषा योग वासिष्ठ मिलता है। इस ग्रन्थ की भाषा शृंखला बद्ध और व्यवस्थित है। अरबी-फ़ारसी के शब्दों का उसमें प्रयोग नहीं हुआ। इसके बाद हमें दौलतराम कृत 'जैन पद्मपुराण' (१७६१ ई०) मिलता है। इसकी भाषा भी अरबी-फ़ारसी शब्दावली से मुक्त है। इसके उपरांत हमें मुंशी सदासुख लाल नियाज़, सदल मिश्र, लल्लूलाल और इंशा की रचनाएँ मिलतीं हैं। इनमें से इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' को छोड़ कर शेष

सभी ग्रन्थ धार्मिक हैं जिनमें शुद्ध तत्सम शब्दों और पंडिताऊ शैलीका प्रयोग हुआ है। हमारे आधुनिक इतिहास लेखक इन ग्रन्थों की भाषा में भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास पाते हैं। वास्तव में यह भावी साहित्यिक रूप का नहीं वरन् हम अपनी तत्समता की प्रवृत्ति का आभास पाते हैं। धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण यदि उनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं—यद्यपि आधुनिक काल की अपेक्षा उनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भाषा को अपने बोझ से कुचले नहीं देता। धार्मिक ग्रन्थ में तत्समता का अधिक प्रयोग होना अनिवार्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण मिल जाता है। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' हिंदी का गँवारपन निकाल कर उसे फ़ैशनेबुल बनाने के लिए सदैव चिंतित रहते थे। किंतु अपनी इस चिंता के कारण के वे उर्दू की ओर अधिकाधिक झुकते गए और अंत में उर्दू को अपनी मातृभाषा तक कहने लगे। ऐसे व्यक्ति ने जब 'मानवधर्म सार' की रचना की तब उसे हिंदी को फ़ैशनेबुल बनाने अर्थात् अरबी-फ़ारसी शब्दावली के प्रयोग की चिंता नहीं हुई। 'मानवधर्म सार' की भाषा संस्कृत शब्द-संपन्न है। इसलिए यदि रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम आदि ने अपने धार्मिक ग्रन्थों की—और वह भी लगभग अनुवाद ग्रन्थों की भाषा संस्कृत गर्भित रखी तो कोई आश्चर्य नहीं। किंतु उनने ग्रन्थों की खड़ी बोली को उसका सहज-स्वाभाविक और भावी साहित्यिक भाषा का रूप मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार की भाषा को हम केवल धार्मिक भाषा-शैली के अंतर्गत रख सकते हैं। उसे सामान्य साहित्यिक भाषा का मापदण्ड बनाना अधिक वैज्ञानिक न होगा।

तब क्या ये धार्मिक ग्रन्थ ही आधुनिक अत्यधिक तत्समता के लिए उत्तरदायी हैं? संभवत नहीं। इन ग्रन्थों के लेखकों ने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा होगा कि हमारी भाषा भावी साहित्यिक भाषा का आभास दे रही है। उनके संबंध में ऐसा समझना तो केवल हमारी मनोवृत्ति का परिचायक है। आधुनिक तथ्यों को सामने रखते हुए अतीत की बातों का अध्ययन करना अधिक युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अधुनिक हिंदी में अत्यधिक तत्समता आजाने के कारण ही कुछ और हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी में ही मिलते हैं और जिन्होंने खड़ी बोली के शैशव में ही उसकी स्वाभाविक गति अवरुद्ध कर दी।

इन कारणों में से सबसे पहला कारण मैं लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को मानता हूँ। यह एक अकेला ग्रंथ ऐसा है जिसने इन पिछले १४०. वर्ष में

हिंदी में कई भयानक भ्रांतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। इसी ग्रंथ के कारण तो हिंदी साहित्य के इतिहास में यह भ्रम प्रचलित हुआ कि आधुनिक हिंदी गद्य का जन्म अँगरेजों की प्रेरणा से फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में हुआ। दूसरे लल्लूलाल के इस कथन से कि—

"···श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र आगरे वाले ने, विसका सार ले, यामिनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम प्रेमसागर धरा...'। वास्तव में 'यामिनी भाषा छोड़ इन तीन शब्दों ने हिंदी साहित्य के इतिहास में बड़ी भारी भ्रांति पैदा कर दी है। इन शब्दों ने यदि एक ओर हिंदी-उर्दू की मिली जुली शैली के पक्षपातियों द्वारा शुद्ध हिंदी लिखने वालों को बुरा भला कहलवाया, तो दूसरी ओर हिदी वालों में यह धारणा उत्पन्न की कि अरबी-फ़ारसी शब्दों से मुक्त किए बिना खड़ी बोली हिंदी लिखी ही नहीं जा सकती। ब्रज भाषा और अवधी के संबंध में हमारी ऐसी धारणा कभी उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ब्रज भाषा और अवधी के न तो किसी कवि ने लल्लूलाल जैसी क़सम खाई थी और न शुद्ध ब्रज भाषा या शुद्ध अवधी जैसी कोई भाषा ही है। मेरे विचार से आधुनिक काल में 'शुद्ध हिंदी' लिखने की प्रवृत्ति के पीछे इन्हीं तीन शब्दों का हाथ है।

किंतु यदि वास्तव में देखा जाय तो इन शब्दों का कोई अपराध नहीं है। इन शब्दों का यथार्थ अर्थ समझने में आधुनिक हिंदी भाषियों से बड़ी भारी भूल हुई है। इसी भूल के कारण आज हमारी भाषा एक अस्वाभाविक बोझ से दबी जा रही है।

इन शब्दों के संबंध में वस्तुस्थिति इस प्रकार है। सबसे पहले प्रश्न यही उठता है कि गिलक्राइस्ट महोदय ने ऐसा ग्रन्थ लिखने की आज्ञा लल्लूलाल को क्यों दी जिसकी भाषा में से यामिनी शब्दों का बिलकुल बहिष्कार कर दिया गया हो। वास्तव में फ़ोर्ट विलियम कालेज में गिलक्राइस्ट के मतानुसार अरबी-फ़ारसी शब्दावली से समन्वित खड़ीबोली का प्राधान्य था। खड़ीबोली के इस अरबी-फ़ारसी मय रूप या हिंदुस्तानी या उर्दू का आधार वह भाषा थी (गिलक्राइस्ट ने इसे ब्रजभाषा माना है) जो मुसलमानी आक्रमण से पहले हिंदी प्रांत में प्रचलित थी और जिसमें सस्कृत शब्दावली ही का प्रयोग होता था। इस आधार के ज्ञान के बिना विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई होती थी। इस आधार स्वरूप भाषा का ज्ञान कराने के लिए ही उन्हें एक ग्रन्थ और भाखा-मुंशी की आवश्यकता थी। भाखा-मुंशी के रूप में स्वयं

लल्लूलाल थे। उन्हीं ने हिन्दुस्तानी की आधार-स्वरूप भाषा का ज्ञान कराने के लिए अर्थात् ऐसी भाषा का परिचय देने के लिए जिसमें संस्कृत तत्व प्रधान था और जो मुसलमानी आक्रमण से पूर्व हिन्दुओं में प्रचलित थी 'प्रेमसागर' की रचना की। अस्तु 'यामिनी' भाषा छोड़' का संबंध केवलमात्र 'प्रेमसागर' की एक विशेष उद्देश्य से लिखी गई भाषा से है, न कि सामान्य खड़ीबोली या हिंदी की अन्य बोलियों से। भाषा के विकास की दृष्टि से लल्लूलाल के ग्रन्थ की भाषा थोड़ी देर के लिए उसकी धार्मिक विषय भुला दीजिए—मुसलमानी आक्रमण से लेकर १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक का काल, जिसमें नए-नए प्रभाव भाषा पर पड़े, छोड़ देती है और एकदम हमें मुसलमानी आक्रमणसे पहले ले जाती है। स्पष्टत: यह अस्वाभाविकता है। बाद के लोग यह समझ बैठे कि खड़ी बोली हिंदी अरबी-फ़ारसी शब्दावली से मुक्त होनी ही चाहिए। लल्लूलाल के बाद ईसाई मिशनरियों ने भी यही भूल की। एक तो उनका हिन्दी भाषा-संबंधी ज्ञान ही अपरिपक्व रहता था, दूसरे वे लल्लूलाल की भाषा का अनुकरण करने का प्रयत्न भी करते थे। फलत: ईसाई मिशनरियों ने संस्कृत शब्दावली के प्रयोग की झोंक में अपने धार्मिक ग्रन्थों की भाषा हास्यास्पद बना डाली है। राजा शिवप्रसाद ने दूसरे प्रकार की भूल की। राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी और उर्दू को न्यारी न्यारी बोली पुकार कर शुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाया जो फिर एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण था। वास्तव में हिंदी के वास्तविक स्वरूप और शैली के दर्शन हमें भारतेंदु हरिश्चंद्र की रचनाओं में मिलता है। उनकी किसी भी रचना को उठाकर देख लीजिए उसमें सर्व प्रचलित संस्कृत शब्दावली के (दुरूह संस्कृत शब्दावली का नहीं) प्रयोग के साथ-साथ तद्भव, देशज और सर्व प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा का सहज और स्वाभाविक रूप हमारे सामने आता है। वास्तव में हिन्दी की जातीय शैली है भी यही। अत्यधिक दुरूह संस्कृत शब्दावली हिन्दी के स्वाभाविक रूप से भिन्न है।

किंतु भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की जातीय शैली का जो आदर्श हमारे सामने रक्खा वह दुर्भाग्यवश अधिक दिन तक न चल सका। लाला श्री निवासदास, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द आदि कुछ और लेखकों की रचनाओं में हिंदी भाषा के सहज रूप के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु साधारणत: लगभग पिछले ७०-८० वर्ष से हिन्दी में संस्कृत की दुरूह शब्दावली से काफ़ी मोह रहा है। १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में यह मोह कुछ

प्रारम्भिक रूप में था, किन्तु २०वीं शताब्दी में हमें उसका विकसित रूप मिलता है। विषय कोई भी हो, लेखक प्रायः संस्कृत गर्भित हिन्दी लिखकर अपना पांडित्य प्रदर्शन करने की चेष्टा में संलग्न दिखाई देते हैं।

इस मोह का कोई एक प्रधान कारण नहीं है। मूलकारण तो लल्लूलाल के तीन शब्द हैं। किन्तु बाद को हिन्दी नवोत्थान, आर्यसमाज, बँगला से अनुवाद, हिन्दी के आधुनिक काल के प्रारम्भ में उसका संस्कृत के प्राचीन केन्द्र काशी से संबंध और हिन्दी भाषा और साहित्य का समाज के मध्यम वर्ग से सम्बन्ध, जो अँगरेज़ी शिक्षा के प्रभावान्तर्गत समाज के प्राकृत और सहज जीवन से कटा हुआ रहा है, इस मोह के प्रधान कारण हैं। हिन्दू-मुसलमानों के राजनीतिक संबंध का भी इसमें हाथ रहा है।' इन्हीं कारणों का असर है कि आज हम सहज, सरल, स्वाभाविक तथा नित्यप्रति के जीवन में व्यवहृत भाषा छोड़कर संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं जिसके फल-स्वरूप न केवल हम जनसाधारण की भाषा से अधिकाधिक दूर हटते जाते हैं, वरन् कलात्मक दृष्टि से भी हम अपनी भाषा का हनन कर रहे हैं।

यह न समझिये कि मैं हिन्दी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग का विरोधी हूँ या 'हिन्दुस्तानी' का पक्षपाती हूँ। जहाँ तक संस्कृत से संबंध है मेरा दृढ़ विश्वास है कि संस्कृत का प्रभाव हिमालय की भाँति अटल रहेगा। मैं यह भी जानता हूँ कि जिस समय हिन्दी को जनसाधारण की भाषा के समीप लाने का प्रश्न उठाया जाता है उस समय जनसाधारण को उसकी वर्तमान पतित दशा से ऊपर उठाने की समस्या भी आवश्यक हो जाती है। यह तो संयोग है कि आज हिन्दी-उर्दू का संघर्ष छिड़ा हुआ है। यदि यह संघर्ष न भी होता तो भी मैं वही कहता जो इस समय कह रहा हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि विषय की दुरुहता के साथ-साथ भाषा भी दुरुह होगी अथवा उच्चकोटि के विषय-निरूपण के लिये भाषा उच्चकोटि की होगी अथवा पारिभाषिक शब्दावलीके लिये हमें संस्कृत का आश्रय लेना पड़ेगा और साथ ही भारत की अन्य आर्यभाषाओं के साथ संपर्क रखने के लिये भी संस्कृत के साए में पलना आवश्यक है। मेरी आपत्ति किसी भी विषय की रचना करते समय तत्समता के साथ अत्यधिक मोह से है जो आज हमें हिन्दी के लेखकों में मिलता है। तत्समता के माध्यम द्वारा अन्य प्रांतीय भाषाओं के समीप पहुँचने की चेष्टा में हम अपनी भाषा का व्यक्तित्व मिटाए दे रहे हैं। संस्कृत तत्व से मुझे कोई झगड़ा नहीं है और न कभी हो सकता है। किंतु तत्सम शब्दों का प्रयोग वहीं तक हो जहाँ तक भाषा का स्वाभाविक सौंदर्य

नष्ट न हो। और हिन्दी का सौंदर्य मेरे विचार से यही है कि उसमें तत्समता की दृष्टि से संस्कृत की सरल शब्दावली के अतिरिक्त तद्भव और देशज शब्दों, जनसाधारण में प्रचलित मुहावरों और कहावतों (इस संबंध में हम ब्रजभाषा से पाठ सीख सकते हैं) और केवल उन्हीं अरबी फ़ारसी अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग हो जो सर्वसाधारण की भाषा में घुलमिल गए हैं। यही हिन्दी की जातीयता है, यह उसका व्यक्तित्व है, यही उसका सौंदर्य है। इसी की रक्षा हमें करनी चाहिए। इस विषय पर हमें स्वयं अपनी भाषा की सजीवता और सुन्दरता को दृष्टि में रखते हुए विचार करना चाहिए, न कि हिन्दी-उर्दू के झगड़े में पड़कर। प्रसाद जी के नाटकों की भाषा का इस संबंध में काफ़ी घातक प्रभाव पड़ा है। मैं यह नहीं कहता कि प्रसाद जी जान बूझ कर इस प्रभाव के जन्मदाता बने। उनके नाटकों की भाषा यदि एक ओर तो तत्कालीन पारसी थिएटरी काल कंपनियों की भाषाकी प्रतिक्रिया के स्वरूप में है, तो दूसरी ओर जिस महान भारत का दिव्य चित्र वह हमने सामने रखना चाहते थे भाषा भी उनके उसी विषय के अनुरूप है। यदि हम 'प्रसाद' जी की भाषा का ही अनुकरण करना चाहते हैं तो क्यों न हम उनकी 'तितली' और 'कंकाल' की भाषा का अनुकरण करें। अत्यधिक तत्सम शब्दावली का प्रयोग कर हम अपनी भाषा को कृत्रिम बना डालते हैं। उसकी स्वच्छंद गति अवरुद्ध कर देते है। यदि हम अपने विचार आधुनिक सहज स्वाभाविक भाषा में प्रकट कर सकते हैं तो क्यों हम संस्कृत का आश्रय लें। कहाँ भारतेंदु हरिश्चंद्र की भाषा और कहाँ आधुनिक लेखकों की भाषा। कलात्मक दृष्टि से हमारी आधुनिक भाषा का ह्रास हो रहा है, क्योंकि उसनें स्वाभाविकता का अभाव है, उसका सहज रूप हमारे सामने नहीं-सौंदर्य तो सहज रूप में ही होता है—भार तो आभूषणों का भी बुरा।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश का ह्रास व्याकरण के जटिल नियमों में बंध कर हुआ। हिंदी अभी व्याकरण के जटिल नियमों में तो नहीं बंधी, किंतु तत्सम शब्दों का बोझ भी कुछ हलका नहीं है। भविष्य के विचार से कला की दृष्टि से और प्रचार की दृष्टि से भी यह बोझ अनिष्टकारी है।

हमारे विद्वान् प्रायः कहा करते हैं कि हिंदी-उर्दू के संघर्ष में उसी की विजय होगी जिसकी भुजा में बल है—बाद विवाद से कुछ नहीं होता। भाषा की भुजा का बल भी है, हमें यही सोचना है।